अकादमी पुस्तक माला 121

यादों के वातायन से



राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

यादों के वातायन से

सपादक

डॉ कन्हैयालाल शर्मा



प्रथम संस्करण 1998

मूल्य सौ रुपये मात्र

आवरण अडिग

प्रकाशक राजस्थान साहित्य अकादमी
सेक्टर 4 हिरनमगरी उदयपुर 313002

मुद्रक सांखला प्रिण्टर्स सुगन निवास
चन्दनसागर बीकानेर 334001

YADO KE WATANYAN SE ()
Edit by Kanhaeya Lal Sharma Rs 100 00

प्रकाशकीय

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर अपनी स्थापना से ही साहित्य के समुन्नयन, प्रचार-प्रसार और साहित्यकारों के हित साधन के लिए बहुविध प्रवृत्तियों का आयोजन करती रही है। साहित्यकारों का सम्मान, सहयोग, पत्रिका, प्रकाशन, समारोह आदि के साथ उच्चस्तरीय साहित्य का प्रकाशन भी अकादमी की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। राजस्थान में जो स्तरीय साहित्य सृजित हो रहे है उसे योजनाबद्ध ढग से प्रस्तुत करने का दायित्व भी अकादमी का है। इस प्रकाशन योजना के अन्तर्गत अकादमी ने विधा विशेष के रचनाकारों की स्तरीय रचनाओं के सकलन प्रकाशित भी किये हैं। इसी क्रम में यह यादों के वातायन से नामक महत्त्वपूर्ण कृति प्रस्तुत है।

सस्मरण के माध्यम से लेखक अपनी स्मृतियाँ और अतीत से जुड़ता है। अपने सम्पर्क में आए व्यक्ति घटना या दृश्य स्मृति पटल पर लेकर उन्हें यथार्थ रूप में प्रकट किया जाता है। उसकी अनुभूति भावमयी शैली में अभिव्यक्ति होती है। हिन्दी में सस्मरण लेखन का राजस्थान से पुराना और गहरा सबध रहा है और इस विधा के विकास में राजस्थान के लेखकों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अकादमी सचालिका ने सस्मरणों के सकलन के प्रकाशन का निर्णय लिया और उसी का परिणाम प्रस्तुत यादों के वातायन से है। इस सकलन के सपादन हेतु सचालिका निर्णयानुसार डॉ कन्हैयालाल शर्मा से अनुरोध किया गया और प्रसन्नता है कि उन्होंने इसे स्वीकार किया। इस सकलन की रचनाओं के चयन का सम्पूर्ण दायित्व उन्हीं का रहा है। डॉ शर्मा ने बड़े परिश्रम बुद्धिमता और दायित्वबोध के साथ अकादमी के इस सकलन को मूर्त रूप दिया, अतएव अकादमी उनके प्रति आभारी है। जिन रचनाकारों के सस्मरण इस सकलन में सम्मिलित हैं उनके प्रति भी विशेष आभार, क्योंकि उनके सक्रिय सहयोग के अभाव में यह सकलन तैयार होना कदापि सभव नहीं था। श्री दीपचन्द साखला, व्यवस्थापक, साखला प्रिन्टर्स, बीकानेर का भी मैं आभारी हू जिन्होंने निश्चित समयावधि में इस कृति को मुद्रित करने के हमारे आग्रह को पूरा किया। आशा है सुधीजन इस प्रकाशन का हार्दिक स्वागत करेंगे।

24 मार्च, 98

डा लक्ष्मीनारायण नन्दवाना
सचिव
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

आमुख

स्मृति के आधार पर किसी व्यक्ति, घटना, परिवेश, यात्रा या कोई अन्य प्रसग पर लिखी वह रचना जिसमें लेखक की अनुभूति और सवेदना का व्यक्तिगत सस्पर्श रहता है, सस्मरण कहलाती हैं। सस्मरण अधिकतर व्यक्तिचरित्र पर लिखे जाते हैं, जो आत्मकथा या जीवनी के निकट होते हैं। वह रचना जिसमें लेखक स्वय के बारे में लिखता है आत्मकथा का अश बना जाती है और दूसरों के विषय में लिखा अतीत का अनुभव जीवनीपरक सस्मरण का रूप ले लेता है। अग्रेजी साहित्य में इन दो प्रकार के सस्मरणों को क्रमश 'रेमिनिसेंसेज और मेमायर' कहा जाता है। हिन्दी में इस प्रकार का विभाजन नहीं है। अत दोनों के लिए सस्मरण' शब्द ही प्रचलित है।

सस्मरण आधुनिक युग में विकसित नयी गद्यविधा है, जो प्रारम्भ से ही अपना साहित्यिक रूप बना कर चला है। आत्मकथा और जीवनी की इतिवृत्त प्रधान प्रकृति से अलग होकर अपनी भावनात्मकता बनाये रखने के कारण उसकी विकासयात्रा साहित्यिक रूप में ही शुरू हुई जब कि जीवनी और आत्मकथा में सृजनात्मकता बहुत बाद में विकसित हुई। आज के व्यस्त जीवन में चरितमूलक गद्यविधाओं की अपेक्षा सस्मरण अपनी सक्षिप्तता, सवेदनात्मकता और सरसता के कारण अधिक लोकप्रिय है। लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होने के कारण सस्मरण अकाल्पनिक गद्यरूपों के अन्तर्गत आता है, जो कथ्य की विश्वसनीयता और प्रस्तुति की कला से पाठक को प्रभावित करता है। यह विशिष्ट व्यक्ति घटना या परिवेश का वास्तविक चित्र होता है काल्पनिक नहीं। उसमें आत्मचेतना और वस्तुनिष्ठता का अद्‌भुत होता है। विषयवस्तु से लेखक की चेतना का जुड़ाव उसे वस्तुनिष्ठता की नीरसता से बचा कर सवेद्य बनाता है और कथ्य के प्रति अपेक्षित असपृक्तता उसे निर्वैयक्तिक बनाने में सहायक होती है। इस प्रकार आत्मकथा और जीवनी के निकट होते हुए भी सस्मरण की विधागत स्वतत्र पहचान की जा सकती है। शैली की दृष्टि से सस्मरण निबध का ही एक रूप कहा जा सकता है। किन्तु सस्मरण स्मृतिमात्र पर आधारित होने के कारण निबध की परिभाषा में नहीं आता।

आत्मकथा से प्रेरित सस्मरण-लेखन का मुख्य उद्देश्य ही आत्मान्वेषण ही होता है पर जीवनीपरक सस्मरणों में सामाजिक उद्देश्य अधिक मुखर होता है। ऐसे सस्मरण पाठक के जावनानुभव को समृद्ध करने के साथ उसे सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय करने में प्रेरक होते हैं। हमारे देश के नव जागरण काल में महापुरुषों के जीवन पर आधारित सस्मरण इसी उद्देश्य से लिखे गये थे। इस प्रकार हिन्दी में सस्मरण साहित्य का प्रारभ परिस्थिति की आवश्यकता नहीं परिस्थिति के सामाजिक उद्देश्य की प्रेरणा से हुआ।

हिन्दी के सस्मरण लेखन द्विवदीयुग मे प्रारभ होकर छायावाद युग में विकास की ओर अग्रसर होता है। छायावादोत्तर युग में सस्मरण साहित्य का बहुआयामी विकास हुआ। समग्ररूप में हिन्दी का सस्मरण साहित्य न केवल परिमाण की दृष्टि से अपितु गुणात्मक रूप में भी अत्यत समृद्ध है।

हिन्दी साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो राजस्थान का सस्मरण साहित्य किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। यहा के सृजनशील साहित्यकारों ने सस्मरण लेखन के क्षेत्र में अपने योगदान से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह सच है कि व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर उनके कार्य का समुचित मूल्याकन नहीं हुआ है। इस पुस्तक के माध्यम से राजस्थान के साहित्यकारों के चुने हुए सस्मरण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आशा है हिन्दी-जगत् में राजस्थान के साहित्यकारों के इस रचनात्मक योगदान का व्यापक स्वागत होगा।

जिन लेखकों ने इस सकलन के लिए हमें अपने सस्मरणात्मक लेख भेजे उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

इस सकलन का सम्पादन वरिष्ठ समीक्षक और साहित्यकार डॉ कन्हैयालाल शर्मा ने किया है। उन्होंने बड़े परिश्रम से रचनाओं का चयन कर पुस्तक की विस्तृत भूमिका में सस्मरण का स्वरूप, हिन्दी सस्मरण की विकास यात्रा तथा सकलित प्रत्येक सस्मरण की विशेषताओं को रेखाकित किया है, जिसमे उनकी विद्वत्ता और गहरी साहित्यिक समझ का परिचय मिलता है। निश्चय ही यह भूमिका पाठकों के लिए उपादेय रहेगी। डॉ शर्मा ने अकादमी के निवेदन को स्वीकार कर यह कार्य बड़ी निष्ठा, योग्यता और परिश्रम से सम्पन्न किया, जिसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

—राधेश्याम शर्मा

अनुक्रम

यादों के वातायन से

भूमिका

साहित्य जीवन की समीक्षा है। उसके विविध रूपों में जीवन समीक्षित होता रहा है। मानव जीवन ज्यों-ज्यों विकसित होता गया त्यों-त्यों साहित्य भी अनेक रूपता अपनाता गया और उसको समग्रता में व्याख्यायित करने के लिए तत्पर रहा। विश्व का प्राचीनतम साहित्य पद्य रूप में मिलता है। गद्य का विकास बाद का है। प्राचीनतम मानव भाव-सवेदनाओं के साथ जीता था, उसके उत्तरवर्ती विकास में उसमें विचारों का उदय एव विकास हुआ। तब उसे पद्यभाषा से आगे बढ़ना पड़ा, क्योंकि वह उसके विचारों की समर्थ सवाहिका नहीं बन पा रही थी। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ मानव विचार-प्रधान प्राणी बन गया और गद्य ने भी उसकी विचारानुरूपता में स्वय को विकसित कर लिया। गद्य की विविध विधाए लेखक की आवश्यकता-वश जन्मी हैं। बात, ख्यात, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के साथ जीवनी साहित्य का विकास भी हुआ। इनमें पूर्वापरता की स्पष्ट स्थापना करना निरापद नहीं है। हा, पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी में जीवनी साहित्य का उदय अपेक्षाकृत नवीन है। जीवनी साहित्य के विविध रूपों में सस्मरण तो अति आधुनिक विधा है। इसका विकास अग्रेजी के Reminiscenes (रेमिनिसेन्स) अथवा Memoire (मेमोइर) के अनुकरण पर हुआ है।

'तिथ्यादितत्त्व' में 'सस्मरण' शब्द प्रयुक्त हुआ है—

ध्यायेन्नारायण नित्य स्नानादिषु च कर्मसु
तद्विष्णो रिति मन्त्रेण स्नायादप्सु पुन पुन
गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णो सस्मरणाय वै।

और पद्य में बनारसी दास जैन के 'अर्द्ध कथानक' में इस विधा के बीज मिलते हैं। इसीलिए बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसे हिन्दी का प्रथम आत्मचरित माना है। इसमें सस्मरण की लगभग सभी विशेषताए मिलती हैं। 300 वर्ष पूर्व का यह सस्मरण अत्यन्त सटीक है और आधुनिक सस्मरणों की विशेषताओं से युक्त है। 'सरोज स्मृति' निरालाजी का पद्यमय सस्मरण है, जिसमें वे अपने जीवन की कटु अनुभूतियों के साथ प्रकट हुए हैं। डा इन्द्र सेंगर का 'अल्पना स्मृति' सस्मरण भी पद्य में ही है जिसका प्रकाशन इन दिनों में हुआ है।

सस्मरण का पद्य रूप न तो विकसित हो सका और न विस्तार पा सका। इसके गद्य रूप ने अपनी स्पष्ट पहचान बनाई। सन् 1905 से विकसित यह विधा आधुनिक है और इसमें निरन्तर सृजन हो रहा है। इसके विकास पर आगे विचार होगा। अभी तो विचारणीय यह है कि 'सस्मरण' क्या है?

'सस्मरण शब्द 'सम्' (उपसर्ग)+'स्मृ'(धातु)+'ल्युट् / अन' (प्रत्यय) के योग से बना है। सम' का अर्थ है सम्यक् या भली प्रकार और स्मृ' का अर्थ है स्मरण करना ल्युट या अन प्रत्यय धातु से भाववाचक सज्ञा बनाता है। अत सस्मरण का अर्थ हुआ भली प्रकार या आत्मीयतापूर्वक स्मरण करना। अत सस्मरण वह गद्य-विधा है जिसमें सस्मरणकार अपने सस्मृत्य का आत्मीयतापूर्वक स्मरण करे। इस केन्द्रीय विचार के आसपास सस्मरण' को परिभाषित किया जाता रहा है—

डा त्रिगुणायत ने अपने शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (पृ 497) में स्मृत्याधृत विधा का मूल स्मरण' अलकार में ढूढ़ने का प्रयास किया है। पर यह अलकार नहीं है, यह तो स्वतन्त्र विधा है। यह आत्मकथा की निकटवर्ती विधा है। पर आत्मकथा की भाति लेखक के व्यक्तिगत जीवन का पूरा विवरण इसमें नहीं होता, बल्कि किसी घटना की चाहे लेखक का उससे नाम मात्र का सम्बन्ध हो याद का विवरण होता है (राजेन्द्र द्विवेदी, साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश—पृ 229)। राजेन्द्र द्विवेदी की इस परिभाषा में सस्मरण की आत्मा तक पहुँचने का प्रयास मिलता है। सस्मरण-लेखक, जो स्वय देखता है, जिसका वह स्वय अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन म उसकी अपनी अनुभूतिया, सवेदनाए भी रहती हैं।

डा ओमप्रकाश शास्त्री के 'समीक्षा तत्व' (पृ 167) में 'सस्मरण उसे माना गया है जिसमे अतीत की अनन्त घटनाओं में से जब किसी अधिक स्मरणीय तथा अविस्मरणीय घटना का अपने व्यक्तित्व में रग कर रोचक शैली में यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। इस परिभाषा में लेखक ने घटना की अविस्मरणीयता, लेखक के व्यक्तित्व का रग और यथार्थ पर बल दिया है। पर लेखक सस्मर्ण्य पात्र को रेखाकित नहीं कर सका है।

उधर पाश्चात्य विद्वान् शिपले के अनुसार सस्मरण में लेखक अपने से भिन्न उन व्यक्तियों वस्तुओं और क्रिया-कलापों आदि का सस्मरणात्मक चित्रण करता है जिसका उसे अपने जीवन में साक्षात्कार हो चुका होता है।' इस परिभाषा में लेखक ने अपने से भिन्न सस्मृत्य पर बल दिया है और जीवन में साक्षात्कार पर भी बल दिया है।

सस्मरणकार अपने व्यक्तित्व के अनुसार कुछ घटनाओं, पात्रों या परिवेश आदि को अविस्मरणीय मानता है और वह उनका विवरण अपनी सवेदनात्मक अनुभूति के रग में रग कर कल्पना का आश्रय लेकर उनकी यथार्थता को अक्षुण्ण बनाये हुए करता है। इस प्रकार सस्मरण जीवनी परक साहित्य की व्यक्तिनिष्ठ प्रत्यक्षानुभूति से पोषित एव यथार्थ से अनुप्राणित गद्य विधा है। सस्मरणकार न चाहते हुए भी अपने सस्मरण में आत्मप्रक्षेपण (Self Projection) अज्ञात रूप से करता है।

सस्मरण की विषय-वस्तु व्यक्ति, घटना या परिवेश बन सकते हैं। लेखक को तो उसे रोचक एव सवेदनीय बनाना होता है। पर रोचकता के आग्रह से उसकी यथार्थता, स्पष्टता एव प्रत्यक्षगर्भिता खडित नहीं होनी चाहिए। कल्पना का उपयोग

अपने स्मर्तव्य को अपनी सृजन-दृष्टि से सम्प्रेषणीयता प्रदान करने तक ही उसका शिल्प परिसीमित हो जाता है। तब उसकी भाषा-शैली कैसी हो ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि वह प्रभावोत्पादक और सुस्पष्ट होनी चाहिए। विषयानुरूपता के साथ लेखक का व्यक्तित्व भी उसे संयमित एवं नियमित करता है। एक श्रेष्ठ संस्मरण में संस्मरणकार की प्रस्तुति में यथार्थता की रक्षा के लिए कथोपकथन की स्वल्पता अपेक्षित है। जो कथोपकथन नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में अपनी उपस्थिति उनकी कलात्मकता एवं अपरिहार्यता सिद्ध करते हैं व संस्मरण में स्वल्प रूप में प्रयुक्त किये जाने पर भी कल्पना-प्रसूत से लगने लगते हैं। उनकी विद्यमानता संस्मरण की रोचकता में तो वृद्धि करती है, पर उनकी स्मृति-जन्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाती है। संस्मरणकार को सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि वह संस्मरण लिख रहा है, कहानी नहीं। बंधन में मुक्ति समझकर लिखा गया संस्मरण अधिक प्रभावोत्पादक और कलात्मक बनता है।

संस्मरण नवीन विकसित विधा है। इसने अपना स्पष्ट एवं निश्चित स्वरूप स्थापित कर लिया है, पर अनेक ऐसी विधाएं हैं जिनसे इसकी भिन्नता पहचानना आवश्यक हो जाता है। आत्मकथा, जीवनी, रेखाचित्र, कहानी, निबंध (ललित भी), यात्रावृत्त साक्षात्वार्ता (इंटरव्यू), ममायर आदि से उसकी भिन्नता को परिलक्षित करना यहां आवश्यक हो जाता है। इन विधाओं से संस्मरण की इतनी समानताएं मिलती हैं कि समालोचक कभी-कभी दो टूक निर्णय कर पाने में असमर्थ से दिखाई पड़ते हैं।

आत्मकथा लेखक के अपने जीवन का आद्योपान्त आख्यान है, पर संस्मरण तो उसके जीवन का संस्मृत रोचक अंश मात्र होता है। अतः संस्मरण पाठक के लिए उबाऊ नहीं होता, जबकि आत्मकथा में इसकी संभावना रहती है। आत्मकथाकार की एकान्ततः अंतर्मुख-प्रधानता संस्मरणकार की बहिर्मुखता की प्रवृत्ति से उल्लेखनीय भिन्नता प्रकटाती है। आत्मकथा प्रायः ख्यातिप्राप्त व्यक्ति ही लिखता है, पर संस्मरण लेखक के लिए ऐसी बाध्यता नहीं है। हां, वह अपने संस्मृत पात्र का चयन अपनी मनोनुकूलता से ही करता है जो प्रायः स्थापित होता है।

जीवनी एवं संस्मरण में वस्तुनिष्ठता होती है। संस्मरण लेखक की तीव्र चयन-सुविधा से उपजता है पर जीवनी में लेखक की चयन तीव्रता विस्तृत जीवनांशों में सर्वत्र समान नहीं बनी रहती। जीवनीकार इतिहासकार पहले होता है किन्तु संस्मरणकार साहित्यकार पहले और इतिहासकार बाद में होता है। श्रेष्ठ जीवनीकार को चयन के पश्चात् तटस्थता बनाये रखनी होती है पर संस्मरण के लिए आवश्यक गुण नहीं है। जीवनीकार जीवन को संपूर्णता में चित्रित करता है पर संस्मरणकार तो उसके एक या अनेक अंशों तक अपने चित्रण को सीमित कर लेता है। संस्मरणकार के

लिए संस्मृत की प्रत्यक्षदर्शिता आवश्यक है, जबकि जीवनियां पुस्तकाधारित अथवा अन्य किसी प्रामाणिक सामग्री के आधार पर लिखी जाती रही हैं।

संस्मरण एवं रेखाचित्र इतने मिले जुले रूप में लिखे जा रहे हैं कि दोनों में पार्थक्य स्थापित करना दुरूह कार्य है। रेखाचित्रों में संस्मरणात्मक शैली का प्रयोग होता है और संस्मरणों में रेखाचित्रीय शैली का। इससे दोनों के सौन्दर्य में निखार आता है। पर दोनों दो भिन्न विधाएं हैं। रेखाचित्र वर्णनात्मक होते हैं और संस्मरण विवरणात्मक। रेखाचित्रकार अपने पात्र का सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, पर संस्मरणकार तो उसके कतिपय जीवन पक्षों का चित्रण करके ही संतुष्ट हो जाता है। रेखाचित्र की शैली संस्मरणकार की शैली से स्पष्ट भिन्नता रखती है।

संस्मरण एवं कहानी में मौलिक अंतर यह है कि कहानी में तीव्र संवेदना-निर्वाह अंत तक उसकी पठनीयता का आकर्षण बनाये रखता है—पाठक अंत तक पहुंचे बिना उसे नहीं छोड़ना चाहता, पर संस्मरण में कथ्य एवं शिल्प का निर्वाह इस दृष्टि से नहीं किया जाता। कहानी का प्रत्येक बढ़ता चरण गन्तव्योन्मुख रहता है, पर संस्मरण के प्रत्येक चरण में पूर्वापरता का इतना घनिष्ट निर्वाह नहीं मिलता। संस्मरणकार की आत्मीयता उसकी रचना में प्रत्यक्ष प्रदर्शित होती है, पर कहानी में ऐसा नहीं मिलता। संस्मरण यथार्थ को आधार बनाता है पर कहानी कल्पना-प्रसूत भी हो सकती है। दोनों के शिल्प में मौलिक अंतर होता है। कहानी अपने शिल्प के कारण भी अधिक पढ़ी और लिखी जाती है और पाठक प्रिय बनती है।

संस्मरण एवं निबंध, साक्षात्वार्ता रिपोर्ताज के मध्य विभाजक रेखाएं खींचना कठिन नहीं है। निबंध विषय-विशेष का बौद्धिक प्रतिपादन करता है, पर संस्मरण स्मृति आधारित संवेदनीय रचना होती है। साक्षात्वार्ता (इंटरव्यू) में बातचीत आधारभूत आवश्यकता है जिसके द्वारा ज्ञातव्य तक पहुंचा जाता है। रिपोर्ताज घटना का वस्तुनिष्ठ वर्णन है, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व व्यक्त ही नहीं हो पाता यह मशीनी प्रक्रिया है। मेमायर में स्मृति के आधार पर इतिहास को प्रस्तुत किया जाता है और प्राय पदासीन अधिकारियों द्वारा लिखा जाता रहा है। संस्मरण अपनी विशेषताओं के कारण इन सब से भिन्न है।

संस्मरण की यात्रा

जीवनी साहित्य लेखन का आरंभ भारतेन्दु युग में हुआ और यात्रावृत्त भी लिखे गये पर संस्मरण-लेखन द्विवेदी काल में ही आरंभ होता है। सरस्वती पत्रिका ने इसके शुभारंभ में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसके संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अनुमोदन का अंत (फरवरी 1905) में सभा की सभ्यता (अप्रैल, 1907) में लिखकर नयी विधा में लिखने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया। लेखकों ने विदेशों के अजूबे और रीति रिवाजों को चित्रित किया। पांडुरंग खान खोजे का वाशिंगटन महाविद्यालय संस्थापन दिनोत्सव (1913) प्यारे लाल मिश्र

रूप में हरिऔधजी के संस्मरण द्विवेदी युग की उल्लेखनीय कृति है। इसके लेखक बालमुकुन्द गुप्त हैं।

छायावाद युग में भी संस्मरण-लेखन को आगे बढ़ाया। 'विशाल भारत', सुधा' और माधुरी' पत्रिकाओं ने इसमें योग दिया। इस काल में बनारसीदास चतुर्वेदी ने अनेक संस्मरण लिखकर संस्मरणकार रूप में अपनी पहचान स्थापित कर ली। पद्मसिंह शर्मा संस्मरण के आदि प्रतिष्ठापक माने जा सकते हैं, जिन्होंने महाकवि अकबर के बड़े रोचक संस्मरण लिखे। श्रीराम शर्मा के शिकार', मन्मथनाथ गुप्त का 'क्रान्ति युग के संस्मरण' शिवराम पाण्डेय का 'मदन मोहन के सम्बन्ध की कुछ पुरानी स्मृतियां' आदि संस्मरण लिखे गये। 'हंस' पत्रिका का 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' (1937) में प्रकाशित हुआ जिसका संपादन बाबूराव विष्णुराव पराड़कर कर रहे थे। श्रीराम शर्मा का संस्मरणात्मक रेखाचित्र 'बोलती प्रतिमा' इस युग की उल्लेखनीय कृति है। महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में दीन-हीन नारी समाज का चित्रांकन किया है। उनमें लेखिका की भावुक कल्पना, संवेदनशीलता और कलात्मकता मिलती है। बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरणों में व्यंग्य का पुट उन्हें सुपठनीयता प्रदान करता है।

बनारसीदास चतुर्वेदी ने छायावादोत्तर युग में भी अपना शीर्ष स्थान बनाये रखा। उन्होंने अपने संपर्क में आनेवाले अनेक व्यक्तियों की कटु-मधुर स्मृतियों को अपने संस्मरणों में उकेरा। उन्होंने संस्मरण एवं रेखाचित्र के मध्य सुस्पष्ट रेखा खींचा। संस्मरण' उनकी उल्लेखनीय कृति है। श्रीराम शर्मा ने 'प्राणों का सौदा', 'जंगल के जीव' वे जाते हैं आदि संस्मरण इसी काल में लिखे। शैली की रोचकता इनकी विशेषता है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'लाल तारा', 'माटी की मूरतें', 'मील का पत्थर', जंजीरें' आदि की रचना की, जिनमें आकर्षक शिल्प है भावुक कल्पना का पुट है। महादेवी वर्मा के अतीत के चलचित्र', स्मृति की रेखाएं, पथ के साथी आदि अपने शीर्षकों से संस्मरण की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, पर हैं ये रेखाचित्र ही। पुरानी स्मृतियां प्रकाश चन्द्र गुप्त की शीर्षकानुरूप विधा की उल्लेखनीय कृति है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की 'जिन्दगी मुस्कराई' में उनका कला-नैपुण्य प्रकट हुआ है। इन्हीं दिनों शिवपूजन सहाय का 'वे दिन वे लोग संकलन प्रकाशित हुआ। देवेन्द्र सत्यार्थी ने संस्मरणकार रूप में अपनी पहचान बनाई। उनका 'रेखाएं बोल उठीं' उल्लेखनीय संस्मरण है। शांतिप्रिय द्विवेदी 'स्मृतियां और कृतियां, परिव्राजक की प्रजा, उपेन्द्रनाथ अश्क के 'रेखाएं और चित्र', 'मंटो मेरा दुश्मन', ज्यादा अपनी कम परायी आदि, विष्णु प्रभाकर का कुछ शब्द कुछ रेखाएं' राहुल सांकृत्यायन का बचपन की स्मृतियां 'जिनका मैं कृतज्ञ मेरे असहयोग के साथी आदि सृजनशील साहित्यकारों के कलात्मक संस्मरण हैं।

प्रसिद्ध आलोचक डा नगेन्द्र की चेतना के बिम्ब, बाबू गुलाबराय की मेरी असफलताए सेठ गोविन्द दास की स्मृति कण आदि सस्मरण साहित्य की उल्लेखनीय रचनाए हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी रामधारीसिंह दिनकर, हरिवशराय बच्चन न सस्मरण लिखे हैं जिनमें कवियों की भावुकता मिलती है। दिनकर के लोकदेव नेहरू एव सस्मरण और श्रद्धाजलिया उल्लेखनीय हैं। प्रथम में नेहरू स सपर्क चित्रित है और दूसरे में साहित्यकारों से। बच्चन के नए पुराने झरोखे, क्या भूलू क्या याद करू सस्मरण रोचक सहज एव प्रवाहपूर्ण हैं। डा रामविलास शर्मा न अनेक सस्मरण लिखे हैं। उनके विराम चिह्न में सकलित डा सुधीन्द्र पर लिखे सस्मरण म बेबाक कथन के दर्शन होते हैं— जिस नगर में रहे उसके साहित्यिक वातावरण पर छा गए। हमारे राजनीतिक विचार एक दूसरे स भिन्न थे किसी हद तक एक दूसरे क विरोधी भी।

यशपाल के तीन सकलन सिंहावलोकन शीर्षक स प्रकाशित हुए हैं इनमें लेखक की क्रान्ति की क्षीण सी विचारधारा प्रवाहित है। प्रभाकर माचवे रायकृष्ण दास, लक्ष्मीनारायण सुधाशु सपूर्णानन्द आदि ने इस विधा को अपनाया है। रायकृष्ण दास द्वारा लिखा जवाहर भाई लेखक की आत्मीयता और सहृदयता का परिचायक है।

डा रवीन्द्र कुमार की वज्रादपि कठोराणि मृदुनी कुसुमादपि (लौह पुरुष के सस्मरण) शीर्षक से 30 लेखों की कृति प्रकाशित हुई है, पर इन्हें सस्मरण सग्रह नहीं कहा जा सकता क्योंकि लेखक का सस्मृत महापुरुष विषयक ज्ञान प्रत्यक्षदर्शिता से प्राप्त नहीं है पुस्तकों लेखों आदि से प्राप्त है। लौह पुरुष को सर्वांगीणता में समझने के लिए यह पुस्तक पठनीय है जिसमें लेखक की श्रद्धा प्रकट हुई है।

सस्मरण विधा को प्रोत्साहन एव स्वीकृति स्मृति ग्रथों ने भी दी है। स्मृति ग्रथों में से अधिकाश राजनेताओं पर लिखे गये हैं।

राजस्थान मे सस्मरण-यात्रा

राजस्थान हिन्दी प्रदेश में ही आता है पर यह एक प्रान्तीय इकाई भी है। आधुनिक काल में जब हिन्दी ने अपनी स्थापना एव विस्तार किया तब परिनिष्ठित हिन्दी की सीमाओं से राजस्थानी हिन्दी को पृथक् सज्ञा देकर समझाया गया। राजस्थान में राजस्थानी भाषा के प्रचलन और उसके राज काज में प्रयोग ने भी राजस्थानी हिन्दी के विकास में तनिक-सा व्यवधान उत्पन्न किया था जिसे बाद में यहा के हिन्दी साहित्यकारों एव लेखकों ने समाप्त कर दिया। आज राजस्थान में हिन्दी लेखन शेष हिन्दी प्रदेश के समान ही गतिमान है और यहा के साहित्यकार उसे तीव्र गति से आगे बढ़ा रहे हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी ने राजस्थान के हिन्दी साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन देने एव मूल्याकन करने की दृष्टि से अनेक साहित्य-विधाओं पर स्वतन्त्र पुस्तक-लेखन करवाने का निर्णय इसलिए नहीं लिया है कि यहा का साहित्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एव पहचान बनाना चाहता है अपितु इसलिए कि यहा के साहित्यकार

न अब तक जो कुछ लिखा है उसका सिंहावलोकन कर लिया जाय और साहित्य सृजन को प्रोत्साहित एव प्रेरित किया जाय। अत 'राजस्थान में सस्मरण यात्रा शीर्षक के अतर्गत उन सस्मरणों पर विचार करना है जो 'सस्मरण की यात्रा शार्षक में अविचारित रह गये हैं। अविचारित रहने का प्रमुख कारण तो यह है ही कि हिन्दी के प्रतिष्ठित समादकों एव इतिहासकारों की उन तक दृष्टि पहुँची ही नहीं। दूसरे, राजस्थान ने हिन्दी का प्रतिष्ठित समादक एव इतिहास लेखक दिये ही नहीं।

राजस्थान में सस्मरण विधा का विकास भी पत्र-पत्रिकाओं और स्वतन्त्र पुस्तक एव स्मृति ग्रथ सृजन से ही हुआ है। अत राजस्थान की सस्मरण-यात्रा को दो उप शीर्षकों के द्वारा समझा जा सकता है—(क) पत्र-पत्रिकाओं एव सकलनों में प्रकाशित सस्मरण, (ख) लेखक-विशेष के सस्मरण-सग्रह एव स्मृति ग्रथ।

(क) पत्र-पत्रिकाओं एव सकलनों में प्रकाशित सस्मरण

भट्ट द्वारा लिखित सुप्रसिद्ध कहानीकार चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को यह भी श्रेय प्राप्त हुआ कि बालकृष्ण 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सस्मरण उनके द्वारा सपादित जयपुर की पत्रिका समालोचक (सित , 1905) में प्रकाशित हुआ। यह सस्मरण विधा की सर्वप्रथम रचना थी।

यों तो कुछ सस्मरण सस्मृत राजनेताओं पर छिटपुट रूप से लिखे गये, पर सन् साठ के बाद 'मधुमती' में वे दिन वे लोग शीर्षक के अतर्गत सस्मरणों का प्रकाशन आरभ हुआ और अनेक प्रसिद्ध लेखकों के सस्मरण इस स्तभ में प्रकाशित होने लगे।

चेतन प्रहरी' (अग -सित ,1961) में 'इदिरा गाधी के साथ दो दिन शीर्षक से माणक चौपड़ा ने सस्मरण प्रकाशित करवाया जिसकी सस्मृता तब सूचना एव प्रसारण मत्री थी। उनके जीवट को लेखक ने पाकिस्तान के बर्बर आक्रमण के समय तूफानी दौरों में देखा और सराहा।

शिक्षक दिवस (1968) पर 'कैसे भूलू' शीर्षक से प्रकाशित कृति, जिसके सपादक ज्ञान भारिल्ल हैं में राजस्थान के सृजनशील अध्यापक-लेखकों का सस्मरण सकलन तो प्रकाशित किया ही, अध्यापक-लेखकों को लेखन-प्रेरणा एव स्फूर्ति भी प्रदान की। 48 सस्मरणों के इस सकलन में अध्यापकीय अनुभूतिया अभिव्यक्त हुई हैं। इसमें छात्र-अध्यापकों के सम्बन्धों के प्रति विविध दृष्टिया मिलती हैं कहीं उनके स्नेह सम्बन्धों को रेखाकित किया गया है, कहीं छात्रों की इच्छा शक्ति और सेवा-भावना पर प्रकाश डाला गया है, कहीं अध्यापक के जीवन को सराय रूप में चित्रित किया गया है । कुछ सस्मरण बापू व नेहरू मैं भी खूनी हू , मित्र मण्डली आदि शीर्षकों से भी लिखे गये हैं। कैसे भूलू का दूसरा भाग 1970 में प्रकाशित हुआ जिसमें 39 सस्मरण हैं। इस सकलन में भी प्रथम भाग की मूल चेतना का निवाह मिलता है और छात्र-अध्यापक सम्बन्धों विषयक अनेक सस्मरण मिलते हैं। आत्म-सस्मरणों में एक

दोष यह है कि लेखक स्वय की या स्व-वर्ग की आत्मश्लाघा करने लग जाता है। तब सस्मरण अपने स्वरूप से विचलित होकर आत्माभिनन्दन-सा बन जाता है। इस सकलन में कतिपय अध्यापक लेखक सस्मरण-लेखक का दायित्व सम्यक् रूप से निर्वाह नहीं कर पाये हैं। करणीदान बारहठ ने बीज , श्रीकृष्ण विश्नोई ने 'आदेश और फैले हाथ' म क्रमश समाज के बदलते मूल्यों के साथ बदलने की आवश्यकता और अध्यापकीय जावन की त्रासदी को उजागर किया है।

शिक्षक दिवस पर हा प्रकाशित 'सन्निवेश' दो (69) व चार ('71) में तथा अस्तित्व की खोज' ('73) 'माध्यम' ('76) ने सस्मरण साहित्य को समृद्ध किया है। पर जो सौन्दर्य कैसे भूलू' सकलनों में सस्मरणों में मिलता है वह स्तर इनमें प्रकाशित सस्मरणों में नहीं मिलता। मद करत जो करत भलाई' (गोपाल कृष्ण जिन्दल) तैमूर लग (रामेश्वर लाल श्रीमाली), जूठन' सोहनलाल प्रजापति आदि सस्मरणों में सस्मरण कला का निर्वाह मिलता है। अध्यापकीय जावन क कटु-तिक्त जावनानुभवों क साथ साथ लेखको ने जीवन के अन्य पक्षों को भी उजागर किया है। कैसे भूलू के दोनों भाग तो सस्मरण-विधा को ही समर्पित थे पर बाद के शिक्षा विभागीय सकलनों में उन्हें स्वल्प-सा स्थान मिला है।

'माटी की सुवास'(87), राग मरुधरा' ('88), समय के हस्ताक्षर ('90) एक अतहीन यात्रा (91) आदि भी शिक्षक दिवसों पर प्रकाशित कृतिया हैं जिनमें कुछ सस्मरण भी प्रकाशित हुए हैं। 'कैसे भूलू' (गोपीलाल शिक्षक), पडित जी'(प्रेम पाल शर्मा), निविड अधर में' 'दिनेश की स्मृतिया' (मदन केवलिया) आदि इनमें मिलते हैं। 'दिनेश की स्मृतिया' में क्यों आत्मा आवे की तरह सौम्यता रहे और बाहर परत-दर-परत अपने को खालता रहे।' में अनुभूत सत्य मार्मिक है।

विश्वभरा', वैचारिकी , 'मधुमती आदि पत्रिकाए सस्मरणों को प्रकाशित करती रही हैं। कोटा स प्रकाशित 'हाडौती गगा ने भी कुछ सस्मरण प्रकाशित किये हैं। पत्रिका' ने सस्मरण-लेखन को आगे बढाने में महत्वपूर्ण योगदान आरभ किया है जिसका प्रथम सस्मरण साहित्य महारथियों की सगत में (कर्पूरचन्द्र कुलिश) एक सुष्ठु सस्मरण है।

पत्र पत्रिकाओं में प्रस्तुत सकलन क अनेक लेखक यत्र तत्र लिखते रहते हैं। इनमें डा अम्बाशकर नागर, डा मनोहर प्रभाकर, डा सियाराम सक्सेना डा भवानीलाल भारतीय, मगल बिहारी, डा लक्ष्मीकान्त शर्मा, डा रामगोपाल शर्मा दिनेश' डा मदन केवलिया डा त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी, जीवनसिंह आदि आते हैं।

(ख) लेखक-विशेष के सस्मरण सग्रह एव स्मृति ग्रथ

प्रकाशन की सुविधा राजस्थानी लेखकों को अधिक सुलभ नहीं हो पाई, अत लेखक-विशेष के सस्मरण सग्रह कम प्रकाशित हो पाये। स्मृति ग्रथ क प्रकाशनों

में राजनेताओं को लेखक एव प्रकाशन सुविधा प्राप्त हो गई, अत उन्हें प्रकाशन मिला। साहित्यकारों का भी पत्रिकाओं क विशेषाकों एव स्मारिकाओं में वर्ण्य विषय बनाया।

राजस्थान के साहित्यकार एव पत्रकार पुरुषोत्तम केवले के निधन पर अनेक पत्र पत्रिकाओं ने विशेषाक प्रकाशित किये जिनमें 'युगपक्ष', सेनानी', गणराज्य' आदि प्रमुख हैं। इनमें उन्हें घुमन्तु पत्रकार, सीमा के सजग प्रहरी, साहित्यकार, मरुस्थल में शार्दूल आदि रूपों में याद किया गया है। 'मोम सा पिघलता हृदय और उस पर पत्रकारिता का वज्र आवरण ऐसा शीशे-सा आचरण बहुत नाजुक होता है।' उनकी मन' नामक पाडुलिपि भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

सूर्यकरण पारीक 'चित्तौड़ के सस्मरणों' में अपनी भावुक कल्पना को उजागर कर सके हैं— चित्तौड़ के ध्वसों का एक एक पत्थर इन्द्र के वज्र की तरह स्मृति-विद्युत् चमकाकर डराने लगा। रक्त-सिचित वीर-भूमि की झाड़ियों का एक-एक काटा आत्मग्लानि के शूलों के अत स्तल के मर्मों को भेदने लगा।' (सूर्यकरण पारीक निबधावली से) भाषा में प्रवाह है और काव्यमयता है। हरिभाऊ उपाध्याय का 'मेरे हृदय देव' सस्मरण भी उल्लेखनीय है।

जवाहिरलाल जैन के जीते जागते चित्र' का प्रकाशन 1966 में हुआ। इसके सस्मरण चिन्तन-प्रधान हैं। 'जहा दरिद्रता चगड़ती है', 'कड़ाई कहा, उदारता कहा अहकार चोट खाये साप जैसा है', 'उर में करुणा स्रोत बहे' आदि शीर्षक भावात्मक हैं पर नीति-परकता के आग्रह से उनकी सरसता में अल्पता आई है।

अक्षयकीर्ति व्यास बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के एम ए के छात्र ने 'हरिऔध और रत्नाकर का स्नेह-सौजन्य' शार्षक से दोनों कवियों के सान्निध्य एव उनके काव्य की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। लेखक दोनों के साथ आजमगढ़ गया था और कवि-द्वय के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुआ कि सस्मरण लिख डाला।

गोपालदास ने विपुल मात्रा में लेखन किया है। 'मोहे बिसरत नाहि' उनका सस्मरण-सग्रह है, जिसमें लखक की अपनी व्यथा-कथा भी है। सस्मरणों में उनक पवित्रतावादा सरल जावन की भलक स्पष्ट रूप से मिलती है। उन्होंन आज क जावन की विसगतियों और विडम्बनाओं को वाणी दी है। लेखक सस्मरणों में सर्वत्र बोला है। उसके कुछ सस्मरण हैं—'एक विधवा सोहागिन , आस्था के साचे सूरमा', 'एक गाधी भक्त' आदि। सस्मरण सहज-सरल है अत पठनीयता के आकर्षण से युक्त है।

जयनारायण गौड़ भारतोय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रह चुके हैं। उन्होंने सवेदना के क्षितिज' रचना-सग्रह प्रकाशित किया है। इसमें 17 सस्मरण हैं और शेष 16 निब घ हैं। यादें नई पुरानी', जाको राखे साइया', अस्वाकृत निमन्त्रण का आनद , 'सवेदना के क्षितिज' आदि पाठक की सवेदना का झकझारत हैं और उसे जगात भा हैं।

मयत्न विहारी भी भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रह चुके हैं। उन्होंने अपने सेवा-काल की स्मृतियों को जगाया है और सेवा कार्य के साथ जुड़े अनुभवों को गहराई से विश्लेषण किया है। उनका चिन्तन-मनन उनके भावुक मन को दबाकर चला है, पर व्यंग्य को अपनाकर संस्मरणों को सुपाच्य बना दिया है। व्यंग्य के तीखे प्रहारों के मध्य उनके अध्यात्म चिन्तन की अंतः सलिला भी प्रवाहित मिलती है। अनुभूत सत्य को बेलाग एवं बेबाक अभिव्यक्त करने की क्षमता में प्रमुख उनके संस्मरण प्रशासन-जगत् का दिशा-बोध कराते हैं।

संस्मरणों को स्मृति ग्रंथों में पत्रिकाओं के विशेषांकों-स्मारिकाओं में भी प्रकाशन मिला है। स्व. हीरालाल शास्त्री, जयनारायण व्यास, मोहनलाल सुखाड़िया, भोगीलाल पंड्या पर प्रकाशित स्मृति ग्रंथों में राजनेताओं की सेवाओं को सराहा गया है। भोगीलाल पंड्या पर प्रकाशित स्मृति ग्रंथ, जिसका संपादन उत्सवलाल शर्मा ने किया है, अनेक संस्मरण मिलते हैं। महंत मुरलीमनोहर शरण के 'संस्मरण' में पंड्या जी के निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रवेश, सेवाभाव चर्चित हैं। उन्हें 'निम्बार्क सम्प्रदाय के नैतिक एवं चारित्रिक आदर्श प्रसाद रूप प्राप्त हुए'। 'वे अनेक के एक थे' (रामसिंह), 'समर्पित जीवन' (अमृतलाल यादव), 'ऐसे थे श्री पंड्या साहब' (बदनसिंह वर्मा), 'गाधा के मानसपुत्र' (पदमचन्द सिंघी) आदि संस्मरण पंड्या जी के व्यक्तित्व के उज्ज्वल पक्ष को चित्रित करते हैं। किशनलाल गर्ग ने 'बागड़ बा मणी बहिन' पंड्या जी की धर्मपत्नी को कस्तूरबा तुल्य बतलाया है।

डा. मथुरालाल शर्मा पर डा. राजोरा के संपादकत्व में प्रकाशित स्मृति ग्रंथ में संस्मृत के छात्रों ने उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को उजागर किया है। प्रेम जी प्रेम पर एक स्मारिका प्रकाशित की गई जिसमें संस्मृत के यशस्वी जीवन, कर्मठता और श्रेष्ठ साहित्यकार रूप का स्मरण किया गया है। स्व. 'गौरी शंकर कमलेश' की स्मृति में प्रकाशित 'कदम्ब' का विशेषांक उन्हें हाड़ौती-प्रेमी, श्रेष्ठ साहित्यकार और श्रेष्ठ मानव रूप में चित्रित करता है। 'विश्वंभरा' का 'विद्याधर शास्त्री स्मृति अंक' में शास्त्री जी की देवपुरुष रूप में स्थापना की गई। वे विद्वान् एवं महामानव थे। सहजता-सरलता उन्हें लोकप्रियता प्रदान कर गई थी। 'वैचारिकी' ने नाथूराम खड़गावत पर विशेषांक प्रकाशित किया और इतिहास-राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान् रूप में उन्हें पहचाना गया। उनकी लघुता में महानता मिलती है और महानता में लघुता। निरभिमानता और सहजता के वे प्रतीक थे। स्व. श्री महावीर प्रसाद शर्मा पर 'संस्मरणांजलि' शीर्षक से ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जिसमें डा. मियाराम सक्सेना, विनायक राव खाडेकर, डा. शान्ति भारद्वाज, डा. दयाकृष्ण विजय आदि के संस्मरण संकलित हैं। यथार्थ की रीढ़ पर स्थित सभी संस्मरणों में लेखकों का शिल्प सौन्दर्य आकर्षक है। वे श्रेष्ठ एडवोकेट, श्रेष्ठ साहित्य उपासक, श्रेष्ठ समाजसेवी-मित्र, राजनेता आदि के साथ आदर्श मानव थे।

प्रस्तुत सकलन के सस्मरणों को निम्नलिखित वर्गों में रखकर समझा जा सकता है—

1 घटना-प्रधान सस्मरण

2 पात्र-प्रधान सस्मरण

(क) साहित्यकार

(ख) गुरु, महापुरुष

(ग) सामान्य जन

(घ) प्राणी, वस्तु

3 परिवेश-प्रधान

1 घटना-प्रधान सस्मरण

ऐसे सस्मरणों में पात्र गौण हो जाते हैं और घटनात्मक आकर्षण सस्मरण में बना रहता है। ऐसे सस्मरण प्राय आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं। कोई घटना लेखक के जावन में घटित हाती है, जो उसे इतनी प्रभावित कर जाती है कि सस्मृत पात्र उसे भूल नहीं पाता। स्मृति साक्षी वह मरु निशा', 'सिंध नदी के किनारे', 'हर प्राणा की छतरी', 'ग्रहण टल गया , अर्द्धरात्रि की स्कूल यात्रा', 'एक अनहोनी टल गई'—इस सकलन के घटना प्रधान सस्मरण हैं। इनमें से 'सिंध नदी के किनारे' और 'अर्द्धरात्रि की स्कूल यात्रा' दो सस्मरणकारों की बाल जीवन की घटना-विषयक है। डा मदन केवलिया ने 4-5 साल की अपनी आयु में घटित घटना का विवरण प्रस्तुत किया है। वह अपने परिवार के साथ बैसाखा का त्योहार देखने सिंध नदी तट पर जाता है, पर वहा की भीड़ भाड़ में वह परिवार से बिछुड़ जाता है। उसकी घर-वापसी के समय लिये गये उसके निर्णय बाल-मनाविज्ञान के अनुरूप होते हैं। बालक की ऐसी विकट अवस्था का अतर्द्वद्व अयथार्थ नहीं लगता। दूसरा सस्मरण डा लालताप्रसाद सक्सेना के उस बाल-रूप का है जब वह अपनी प्राथमिक कक्षाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गाव-गाव भटकता है। उसका स्कूल भी उसके निवास से 14 किलामाटर होता है। स्कूल समय पर पहुँचने की चिन्ता उस अर्द्धरात्रि में ही घर से प्रस्थान करवा देती है। रात्रि के अधेरे में अकेले बालक की लम्बी यात्रा के साथ बनते-बिगड़ते विचार-भाव बाल मनोविज्ञान के अनुरूप हैं पर पिता के प्रतिकूल तर्क प्रस्तुत कर रहे बालक में प्रौढ़ लेखक बोलता दिखाई देता है। कथोपकथन का प्राचुर्य सस्मरण कला के अनुरूप नहीं माना जाता, फिर उनकी प्रौढ़ता तो सस्मरण कला को ही सभाल नहीं पाती।

इदुशेखर 'तत्पुरुष' का 'ग्रहण टल गया भी एक घटना-प्रधान सस्मरण कहा जा सकता है। इसका ससमरणकार तब बाल्यावस्था का था। हनुमान जी को प्रसाद चढ़ाकर मुस्लिम बालकों को भी वितरित करता था। उसके बीसेक वर्ष बाद जब मुस्लिम महिला

अल्लाह तुझे सलामत रखे' के करुण स्वर में भीख मांगता है तब लेखक उसके कटोरे में सिक्का डालकर स्वयं को साम्प्रदायिकता के ग्रहण से बचाकर 'हिन्दूपन' को बचा लेता है। संस्मरण में मानवतावादी दृष्टि की स्थापना मिलती है। लेखक का संस्मरण के पूर्वार्द्ध का विश्लेषण संस्मरण के उद्देश्य की स्थापना में सहायक बना है।

'हर प्राणी की छतरी', 'एक अनहोनी टल गई' तथा 'स्मृति साक्षी है वह मरुनिशा'—तीनों संस्मरणों की घटनावलियों का सहज विकास इस रूप में मिलता है, मानो लेखक कहानियां लिख रहे हों। तीनों में पूर्वापरता और कारण-कार्य सम्बन्ध भले ही ना हो पर कौतूहल का निर्वाह सहज रूप में हो गया है। तृतीय संस्मरण का लेखक डा. कमलकान्त शर्मा एक चिकित्सक है जो प्रथम नियुक्ति के बाद रेगिस्तान की एक ढाणी में पद स्थापित होता है। वहां उसे प्रसव-पीड़ा से ग्रस्त महिला का प्रसूति कर्म एवं शरणद के कवि सम्मेलन के आमंत्रण एक साथ मिलते हैं। लेखक अपना कर्त्तव्य निर्वाह पहले करता है और सम्मेलन में उपस्थिति को द्वितीय स्थानीय बनाता है। अंधेरी निशा की कष्टकर ऊंट की पीठ की उसकी यात्रा का विवरण यथार्थ की अनुभूति कराता है। यह संस्मरण कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान् बनने की प्रेरणा देता है। पहले एवं दूसरे संस्मरणों के लेखक अध्यापक हैं। डा. रामगोपाल शर्मा का 'हर प्राणी की छतरी' में 14 वर्षीय लेखक की वर्षा एवं अंधकार में नदी नालों को पार करता यात्रा का विवरण है। मार्ग में डाकुओं का सामना भी होता है। धार में बह जाने की संभावना के अवसर पर कोई अज्ञात व्यक्ति उसे बचा लेता है और फिर दृष्टि से ओझल हो जाता है वह ढूंढने पर भी नहीं मिलता। तब जो रक्षक बनकर आया वही 'हर प्राणी की छतरी' है। लेखक का ईश्वरीय आस्थावादी दृष्टिकोण संस्मरण में रेखांकित हुआ है। सी. एल. सालखा का 'एक अनहोनी टल गई' संस्मरण में हटनावन्न से प्रथम वेतन लेकर लौटते अध्यापकीय जीवन की भयावह घटना का विवरण एवं चित्रण मिलता है। अनदेखा मार्ग, रात्रि का गहन अंधकार, जंगली जानवरों के साथ-साथ चोर-डाकुओं का भय संस्मरण को अत्यन्त रोमांचक बना देते हैं। लेखक ने अपने अंतर्द्वंद्व, पात्र एवं परिवेश का घटना विवरण के साथ-साथ आकर्षक चित्रण किया है।

2 पात्र-प्रधान संस्मरण

संस्मरणों में अनेक प्रकार के पात्र हैं—साहित्यकार, गुरु, महापुरुष, सामान्यजन एवं प्राणी-वस्तु आदि। संस्मरण अधिकांश में साहित्यकार विषयक है। गुरु, महामानव, सामान्यजन, प्राणी वस्तु-विषयक संस्मरणों की संख्या क्रमशः कम है।

2 (क) साहित्यकार

प्रस्तुत संकलन में साहित्यकारों पर संस्मरण लिखे गये हैं। संस्मृत साहित्यकार एवं संस्मरणकार दोनों में तीन-तीन पीढ़ियां प्रस्तुत हुई हैं। एक ओर हरिऔध, प्रसाद, प्रेमचन्द को संस्मृत किया गया है तो दूसरी ओर डा. बादिवडकर को और तीसरी ओर

मध्य की पीढ़ी शरद जोशी देवेन्द्र सत्यार्थी की। सस्मरणकार के रूप में वयोवृद्ध जनार्दन नागर और नवयुवक विजय जोशी हैं और मध्य आयु वर्ग के हैं—डा राकेश, रामनाथ कमलाकर', डा मनोहर प्रभाकर आदि। सस्मरणकारों ने प्रतिबद्धता स प्रेरित होकर अपने सस्मृत को नहीं चुना है, एक साहित्यकार का साहित्यकार के प्रति सहज अनुराग एव सवेदनशीलता न उनकी लेखनी को सृजनोन्मुख किया है। लगभग सभी साहित्यकार अपने स्वभाव की तरलता-सरलता के कारण तथा अपनी सृजनक्षमता एव सृजित साहित्य के कारण सस्मरणकारों के लिए सस्मरणीय बने हैं।

मेरे साहित्य जीवन के चिरस्मरण' वयोवृद्ध जनार्दन नागर सर्वाधिक सौभाग्यशाली सस्मरणकार हैं जो अपने विद्यार्थी-जीवन में हरिऔध, प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे यशस्वी साहित्यकारों से और युवाकाल में 'दिनकर' जैसे चिन्तकों एव साहित्य सर्जकों से हार्दिक प्रत्यक्ष सपर्क स्थापित कर सके और उनके काव्य की रसधारा एव चिन्तन से लाभान्वित हो सके। जनार्दन स्वय भी श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। उनके साहित्यकार-जन्म में सभवत विद्यार्थी-जीवन के सस्कार ही कारण बने हैं। उनका सपर्क एव सान्निध्य बनारस में अन्य साहित्यकारों से भी हुआ और वह उनके लिए वरदान बना। आलोच्य सस्मरण में लेखक के दो युग बिम्बित हुए हैं और लेखक की समीक्षक दृष्टि भी प्रकट हुई है।

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय का याद आते हैं वे दिन वे लोग' ऐसा सस्मरण है जिसमें लेखक अपने शीर्षक से हटकर आत्म कथात्मक शैली में स्वय ही सस्मृत बन जाता है। उसके लेखकीय जीवन का जन्म 'व्हाट इज ब्यूटी' के हिन्दी रूपान्तर 'सौंदर्य क्या है ?' के याद' पत्रिका में प्रकाशन के साथ होता है और अपनी लेखन-यात्रा के सक्षिप्त विवरण में वह कुछ सस्मरणीय व्यक्तियों को परिगणित करता है। लेखक की प्रस्तुति और भाषा-शैली की सहजता-प्रवाहमयता सस्मरण की पठनीयता को रेखाकित करती है।

हिन्दी प्रेमी सेठ गोविन्द दास' सस्मरण विनोद सोमानी का अति लघु सस्मरण है, जिसमें लेखक अपनी काव्य पुस्तक की भूमिका सेठजी द्वारा लिखवाने का निवेदन उनके अजमेर आने पर करता है और अपने व्यस्ततम कार्यक्रम में से समय निकालकर वे भूमिका लिखकर अपनी सदाशयता, महानता तथा सहृदयता की अविस्मरणीय ऐसी छाप लेखक पर छोड़ते हैं कि सन् 1968 की घटना ही उनकी स्मृति में ताजा रहा है, अपितु सेठजी का यह कथन भी सस्मरण को पठनीयता प्रदान करता है—'मुझे गलत समझा जाता रहा है। मैं प्रान्तीय भाषाओं के विकास के लिए सब कुछ कर रहा हूँ। वे पनपेंगी तो हिन्दी स्वत ही राजभाषा बन जावेगी।' काश, सेठजी का स्वप्न स्वतत्रता की पचासवीं वर्षगाठ तक तो पूरा हो पाता।

डा ऊषा भार्गव का 'क्या भूल सकूगी उनको ?' के सस्मृत वयोवृद्ध प्रसिद्ध साहित्यकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हैं। इलाहाबाद प्रवासकाल में लेखिका 77 वर्षीय जर्जर स्वास्थ्य युक्त अश्क' स मिलती हैं। अपना रेखाचित्रात्मक शैली में व 'अश्क जी' का

अति स्वल्प सा परिचय देती हैं, पर 'विनय की बातों' द्वारा वह बहुत कुछ पहले कह जाती हैं। मानो प्रत्यक्ष परिचय तो पूर्वकथित का साक्षी भर हो। संस्मरण में कथ्य की स्वल्पता निराशाजनक है पर प्रस्तुति में आकर्षण है।

रामनाथ 'कमलाकर' ने याद महाकवि की ' में कवि हरनाथ के व्यक्तित्व को अनेक संदर्भों में चित्रित किया है। हरनाथ राज्याश्रित कवि थे, पर स्वाभिमानी था। उनके काव्य-पाठ में श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध करने की शक्ति थी। लेखक का मानना है कि ये सभी शक्तियाँ कवि को मा तारा' की सिद्धि से प्राप्त हुई थीं। कमलाकर जी ने संस्मृत को इस रूप में पहचान कर स्वयं की भी पहचान स्थापित की है। 'हरनाथ ग्रंथावली' का प्रकाशन राजस्थान साहित्य अकादमी ने किया, संस्मरणकार उसी सम्मान एवं आदरभाव से कवि को याद करता है।

पूर्व लेखक के नामधारी कमलाकर कमल पर 'गुलाबी नगर में खिला था कमल' संस्मरण डा त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी ने अत्यन्त श्रद्धा एवं कृतज्ञता भाव से लिखा है और एक साधु पुरुष का चित्र प्रस्तुत किया है जिसका बाह्याभ्यंतर एक था। वे साहित्य-साधना को समर्पित एवं 'साहित्य सदावर्त्त के संस्थापक-संचालक, श्रेष्ठ शिक्षक एवं श्रेष्ठ मानव थे। उनके मानवीय पक्ष को लेखक ने उजागर किया है तथा उनकी कमलवत्ता' को स्थापित किया है। लेखक की प्रांजल शैली प्रतिपाद्य को संवेदनीय बनाती है।

सावित्री परमार द्वारा 'अप्रतिम शब्द शिल्पी' शीर्षक से आकाशवाणी, जयपुर द्वारा आयोजित सर्व भाषा काव्य सम्मेलन में पधारे रामेश्वर शुक्ल अंचल' को संस्मृत साहित्यकार रूप में चित्रित किया गया है। लेखिका ने अतिथि बनकर आये 'अंचल' की मनमौजी फक्कड़ प्रकृति और काव्य-प्रतिभा को उजागर किया है। उनके सान्निध्य में बिताये गये क्षण एवं सुनी गई कविताओं में स्मरणीयता है। कथोपकथनों का आधिक्य संस्मरण की यथार्थता पर प्रश्न-चिह्न लगाता है, पर अंचल जी का काव्य-पाठ उसे कलात्मकता प्रदान करता है।

ये जो ये शरद जोशी' के संस्मरण लेखक यशवन्त कोठारी ने अत्यन्त आत्मीयता और अपनेपन से ओतप्रोत व्यंग्य लेखक शरद जोशी को चित्रित किया है। सम्पादक एवं लेखक तथा पद्मश्री से सम्मानित संस्मृत साहित्यकार शरद जोशी और कोठारी में दूरी थी ही नहीं, ऐसा मित्रवत् भाव इस कृति में प्रकट होता है। अति लघ्वाकारी यह संस्मरण शैली वैविध्य से भी परिपुष्ट किया गया है। संस्मरण को पढ़कर पाठक लेखक से संवेदना-भूमि पर पहचान स्थापित करेगा।

डा मनोहर प्रभाकर ने कितने बहुरंगी थे रांगेय राघव' संस्मरण में मैत्री भाव से प्राप्त जानकारी को संस्मृत के अंत -बाह्य को एक साथ चित्रित कर दिया है। विभिन्न विधाओं में दो सौ के लगभग पुस्तकें लिखने वाले और अहर्निश स्वाध्याय और लेखन में निमग्न रहने वाले विनोदी और सरल स्वभाव के व्यक्ति में जो दुर्बलताएँ थीं,

ये भी सस्मरण में स्थान पाकर उसे यथार्थ की रीढ़ पर सभाले एव साधे हुए हैं। व्यक्तिगत मित्रता को लेखकीय वस्तुनिष्ठता में प्रस्तुत करने की 'मनोहर' कला उपादेय है और शिल्प-सौन्दर्य को रेखाकित करती है।

अपने सस्मृत मित्र साहित्यकार की स्मृति में कविवर मुकुल स्मृतियों की विराट यात्रा' सस्मरण लब्धप्रतिष्ठ 'सेनानी' रचयिता पर लिखा मार्मिक है। डा लक्ष्मीकान्त शर्मा सकलन के तीसरे मित्र भाव के लेखक हैं, इससे पूर्व के दो लेखकों में भी यह मिलता है। मित्र भाव का कवि—समीक्षक रूप भी सस्मरण में चित्रित हुआ है जो दोनों को निकट लाता है। लेखक मुकुल' के साहित्य सृजन से भी परिचय कराता है। लेखक की सधी-मजी भाषा-शैली ने सम्प्रेषणीयता को सवारा है।

इन पक्तियों के लेखक ने 'हाड़ौती-प्रेमी प्रेम जी प्रम' सस्मरण प्रेम जी प्रेम के साहित्यकार, हाडौती लोक सस्कृति प्रेमी, रोगी आदि रूप में चित्रित किया है।

उपर्युक्त सभी सस्मरण दिवगत साहित्यकारों पर लिखे गये हैं। आगे तीन ऐसे साहित्यकारों क सस्मरणों पर टिप्पणिया हैं जो जीवित हैं। आयुक्रम से नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी एव डा चन्द्रकान्त म बादिवडेकर विचारणीय हैं।

डा शान्ति भारद्वाज का 'हम तुम्हार चचिया ससुर' शीर्षक से लिखा गया सस्मरण प्रसिद्ध साहित्यकार बाबा नागार्जुन विषयक है, जो उ हें लेखक के पारिवारिक परिवेश में चित्रित करता है। वे लेखक के घर में अतिथि बनकर रहे और परिवार में इतने घुलमिल गये मानो उसके सदस्य हों। लेखक ने अपना 'परीक्षित' खण्डकाव्य भी उन्हें पाडुलिपि की अवस्था में सुनाया, जिस उ होंने सराहा। आकर्षक एव सुन्दर भाषा-शैली में लिखा यह एक श्रेष्ठ सस्मरण है। किसी साहित्यकार को पारिवारिक परिवेश में चित्रित करना लेखक की मौलिक सूझ-बूझ है।

डा सत्येन्द्र चतुर्वेदी के 'देवेन्द्र सत्यार्थी के साथ एक शाम' सस्मरण में सस्मृत साहित्यकार अजमेर यात्रा से लौटते समय धोबी की बन्द दुकान खुलवाकर कपडे लेने के बाच के समय का सदुपयोग 'हम सनम कहानी सुनाने में करते हैं और लेखक की समीक्षा आमत्रित करते हैं। सत्यार्थी की उत्कृष्ट सृजन की रुचि और लगन तथा जीवन की सादगी और सरलता ने प्रस्तुत सस्मरण को लेखन-प्रेरणा दी है।

डा चन्द्रकान्त म बादिवडकर के सान्निध्य में विजय जोशी का ऐसा सस्मरण है जिसमें लेखक की सस्मृत के प्रति श्रद्धा एव जिज्ञासा सृजन-प्रेरणा दे रही है। कोटा व्याख्यान-माला में आये सस्मृत साहित्यकार के सहज-सरल विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व ने लेखक का प्रभावित किया है। लेखक की जिज्ञासावृत्ति हा उसे डा च द्रकान्त के बम्बई स्थित निवास पर ले जाती है। और लेखक अधिक ज्ञानवान होकर एव आभार भाव से भरकर कोटा लौटता है। सस्मरण में सहज एव सरल शैली है और भाषा में प्राजलता।

2 (ख) गुरु एवं महामानव

डा अम्बाशंकर नागर का 'भ्रमर की रसवृत्ति एवं बाण की वेधकता' संस्मरण आचार्य शिलीमुख जी विषयक है। शीर्षक चयन में लेखक ने 'शिलीमुख' के अर्थ— भ्रमर एवं बाण को स्वीकारा है। शिलीमुख जी लेखक के शिक्षा गुरु रहे हैं। उनके प्रति लेखक में गहरी श्रद्धा एवं सम्मान भाव है जो इस रचना में अभिव्यक्त हुए हैं। शिलीमुख जी के एक वाक्य-बाण ने लेखक के जीवन की दिशा ही बदल दी, जो था— नागर जी, बुरा न मानें तो एक बात कहूं। आप कितने भी बड़े पत्रकार, कवि या कलाकार क्यों न हो जाए, कहलायेंगे अनपढ़ ही।' लेखक ने एम ए किया और प्राध्यापक नियुक्त हुए और आज देश के चोटी के विद्वानों की श्रेणी में आते हैं। वे पारस के स्पर्श से कंचन बने। संस्मरण का शिल्प-सौंदर्य सुन्दर है और कथ्य में शिक्षा के महत्व को स्वीकारा गया है।

डा भवानीलाल भारतीय का 'मेरे मास्टर साहब—देवराज उपाध्याय' संस्मरण लेखक एवं गुरु के बहुआयामी सम्बन्धों को चित्रित करता है। संस्मृत पात्र डा देवराज उपाध्याय की पहचान श्रेष्ठ अध्यापक, शोध छात्र श्रेष्ठ लेखक और आदर्श मानव रूप में लेखक स्थापित करता है। उनकी बधिरताजन्य संकटग्रस्तता एवं सहृदयता भी चित्रित हुई है। जीवन की लम्बी यात्रा में शिष्य का गुरु के साथ श्रद्धा-विश्वास के सदा जुड़े रहने से संस्मरण मनोहारी बन गया है। संस्मरण में विस्तार दीर्घकालीन साहचर्य से है, अनर्गल विस्तारजन्य नहीं। भाषा-शैली में प्रवाह एवं प्रांजलता है।

'यादों के आइने में' संस्मरण की लेखिका डा अजरानूर शोध-छात्रा रही हैं अपने शोध गुरु डा कृष्णानन्द जोशी की, जिनकी विद्वत्ता, सज्जनता, शालीनता और व्यवहार में सहजता आदि गुणों ने लेखिका द्वारा यह रचना लिखवाई है। शोध छात्र एवं शोध-निर्देशक के पारस्परिक परिचय में इतनी घनिष्टता उभर आती है कि शोध निर्देशक का जीवन एक खुली किताब सा बन जाता है। लेखिका ने ऐसे जीवन के अनेक अध्यायों को देखा समझा है। कथोपकथन की बहुलता संस्मरण-शिल्प की दुर्बलता मानी जाती है, क्योंकि वे यथार्थ की रीढ़ को सुपुष्ट नहीं करते। भाषा-शैली आकर्षक एवं रोचक है।

उपर्युक्त तीन गुरुओं के पश्चात् दो महामानवों के संस्मरण भी विचारणीय हैं।

ब्रजमोहन सपूत' का 'एक गुरु-भक्त की भावुक भूल' शीर्षक से लिखा गया संस्मरण के संस्मृत गुरुदाता दीनदयाल हैं। वे नान्सा को छोड़कर बांसा जाने का निर्णय ले चुके थे। इससे सभी सत्संगी व्यथित थे। 'सपूत' ने सत्संगियों की भावना को पहचाना और एक गीत में स्वरबद्ध किया। शब्द थे— बांसा मत जा, मत जा जोगी। इस पर गुरुवर क्रुद्ध हो गये। लेखक ने इस मर्मस्पर्शी घटना के माध्यम से अपनी श्रद्धा-भक्ति को संस्मरण में व्यक्त किया है और अपनी आत्मग्लानि को संवेदनीय बनाया है।

इस अत्यन्त लघु सस्मरण में अध्यात्म गुरु एव शिष्य के मध्य के उस सम्बन्ध को रेखाकित किया गया है जिसे कबीर ने अनेक साखियों में अभिव्यक्त किया है।

डा रामचरण महेन्द्र का 'उस विलक्षण मानव के साथ चालीस साल' का विलक्षण मानव और कोई नहीं, आचार्य श्रीराम शर्मा हैं, जिन्होंने 'अखण्ड ज्योति' का आरभ करते समय लेखक से सहायता प्राप्त की थी। बाद में सस्मृत व्यक्ति सत, सिद्ध योगी विचारक, समाज सुधारक, सपादक, लेखक रूप में जाने-माने गये। देश भर में गायत्री शक्तिपीठों की स्थापनाओं एव समाज-सुधार के कार्यक्रमों ने उन्हें ब्रह्मा के मानस पुत्र रूप में स्थापित किया। लेखक की सहज सरल भाषा सस्मरण को पठनीयता प्रदान करती है।

सत विनोबा पाटन पधारे' शकुन्तला 'रेणु का आकर्षक सस्मरण है। 'जा दिन सत पाहुने आवत' के कवि ने रेखाकित किया है कि उस दिन सारे पाप धुल जाते हैं । सत विनोबा का लेखिका की जन्म-भूमि पर पधारना इसलिये भी महत्त्वपूर्ण घटना बन जाता है कि पाटन में दो महामानवों का मिलन होता है—सत विनोबा भावे एव लेखिका के नेत्रहीन वृद्ध पिताश्री प्रसिद्ध कवि गिरधर शर्मा का। सस्मरण में लेखिका की पीड़ा व्यक्त हुई कि पिताश्री की आज्ञा की अप्राप्ति से वह विनोबा मण्डली में सम्मिलित नहीं हो सकी। सक्षिप्त, पर मार्मिक प्रसग ने सस्मरण लेखन की प्रेरणा दी है। लेखिका की भाषा-शैली में न उस सवेदना के दर्शन होते हैं जो उनके काव्य में मिलती है और न वह भाषा-शैली-लालित्य, जिनका कारण बनी हैं लेखिका की नेत्रहीनता।

डा सियाराम सक्सेना अपने सस्मरण में श्री शभुदयाल सक्सेना को सवेदना सागर' रूप में चित्रित करते हैं। वे 'कोटा के गाधी रूप में जाने एव माने जाते थे जिन्हें समस्त अचलवासियों ने अत्यन्त श्रद्धा एव पूज्य भाव से देखा-समझा है। डा सक्सेना ने जनता के मसीहा राग-द्वेष से रहित, कर्मयोगी, अत्यन्त गभीर विद्वान्, आदर्श मानव एव नि स्वार्थ त्यागमूर्ति रूप में पहचान कर जनता की भावना को ही व्यक्त किया है। त्यागी और आदर्शों को समर्पित सस्मृत महामानव अनालोचित कुसुम के समान झर गये, लेखक का यह आलोचन प्रशसनीय है। कथ्य के सौन्दर्य को लेखक की सधी-मजी भाषा-शैली ने निखारा है।

2 (ग) सामान्य जन

इस वर्ग के तीन सस्मरण सकलन में है—बालकृष्ण थोलम्बिया का वे दिन वे लोग', मनोहर सिह का 'सुरजा और भागीरथ भार्गव का मोती की मा ।

बालकृष्ण थोलम्बिया का वे दिन वे बातें' उनके बाल्यकालीन जीवन का सस्मरण है। उसका घर और पडोस ऐसे व्यक्तियों से बालकों-बूढ़ों से भरा रहता था जिनमें साम्प्रदायिक विद्वेष था ही नहीं—सौहार्दपूर्ण वातावरण में हिन्दू-मुस्लिम खेलते-

कूदते मिलते-जुलते थे। त्योहारों का मिलजुलकर मनाते, पर आज तो कौमी एकता का नारा केवल कथन भर रह गया आचरण में वह उतरा हा नहीं है। राजनेता साम्प्रदायिकता की भावना उभार कर उसका लाभ लेते रहत हैं। सस्मरणकार की पीडा देशभक्त की पीडा है। लेखक का ध्यान इस सस्मरण में उद्देश्य-स्थापना की ओर केन्द्रित है। सस्मरण की प्रतिपादन-शैली लुभावनी है।

सुरजा रेखाचित्रात्मक सस्मरण है। मनोहरसिह राठौड़ ने 'सुरजा का वाह्य रूप एव अतस् दोनों को एक साथ उकेरा है। सुरजा' ने वय के उतार-चढ़ाव देखे, पर वह जस-का तस रहा। और यदि रात्रिजागरण के अवसर पर बिजली के खभे से गिरकर अपनी रीढ़ न तुडा लेता तब भी वह जस-का-तस रहता। लेखक से उसका विशेष स्नेह सम्बन्ध हो गया था। उसकी अपाहिज अवस्था में जब लेखक पाता है कि सुरजा का अक्खड-फक्कडपन तिरोहित हो गया है और आँखों में सूनापन है, तब लौटते समय का सुरजा का यह चित्र उभयपक्षीय मर्म को छूता सा बनता है— मैं एक बार मुड़ा वह टकटकी लगाये मुझे देख रहा था।' सधी-सवरी भाषा-शैली से सस्मरण अधिक सवेदनीय बनकर चित्रित हुआ है।

माती की मा महादेवी वर्मा की मन्नू की मा का स्मरण कराता है। भागीरथ भार्गव के घर की श्रमिक महिला है जो मानवीय गुणों से भरपूर है। उसकी लेखक के घर में सेवा-चाकरी उसके घर के सभा सदस्यो से स्नेह-सम्बन्धों में जोड़े हुए था पर उसका अपना घरेलू जीवन अपने पुत्र मोती की शराबखोरी की आदत से अत्यन्त करुणाजनक बन जाता है। लेखक ने सस्मृत नायिका की किशोरावस्था, युवावस्था, अधेडावस्था को बनते-बिगडते रूपों में चित्रित किया है और मरणावस्था भी उसने देखी है। समाज का समस्त विष पीकर दिवगता मोती की मा का चित्रण अत्यन्त सहानुभूति से किया गया है। भाषा-शैली प्रवाहमय एव प्रभावपूर्ण है।

जीवनसिह का मेवात की धींग धरा का लेखक अपने दादाजी की प्राणिमात्र के प्रति करुणा की दृष्टि की स्थापना करता है। वे पशु-चिकित्सक रूप में अपने गाव एव आसपास के गावों में जाने माने जाते थे। प्राणि-प्रेम का एक उपरूप मानव प्रेम भी है जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर लहराता है। गाव की उस पावन गगा में स्नात आलोच्य लेखक आयु के पचासवें वर्ष में पीछे मुड़कर देखता है जब वह शहरी बनता जा रहा है उसके बच्चे अधिक बदल गये हैं। अब वह गाव की ओर—अपने खूँटे की ओर भागना चाहता है क्योंकि वहा सरलता एव सौम्यता है। लेखक का यह सस्मरण हृदय-स्पर्शी है, पर उसे ज्ञात हागा ही कि आज का गाव दादाजी का गाव कहा रह गया है।

2 (घ) प्राणी-वस्तु

डा बद्रीप्रसाद पचोली का नदिनी और मेरा नदन वन का सस्मृत पात्र उनके गुरु डा फतहसिह जी की गाय की वछिया है जिसमें लेखक कामधेनु सुता

नदिनी की छाया देखता है। अपनी विद्वत्ता और विस्तृत अध्ययन की गहरी छाप छोड़ता हुआ यह सस्मरणकार अपने गुरु-द्वय (डा फतहसिह एव सुरजनदास स्वामी) के प्रति भी अपने श्रद्धाभाव का अत्यन्त कुशलता के साथ प्रकट कर गया है। लेखक की तीव्र एव गहन श्रद्धा पाठक को विषयान्तर का सा बोध कराने लगती है, तब लेखक का शैली-कौशल सस्मरण को अधिक तत्परता से सभाल एव सहेज लेता है। लेखक की सर्वभूत-प्रेमवादी दृष्टि नूतन सौंदर्य बोध कराता है।

जयनारायण गौड़ ने 'अलार्म घड़ी क रूप अनेक शीर्षक से जो सस्मरण लिखा है वह कौतूहल-वर्धक है। अपनी जीवन-यात्रा से अलार्म घड़ी के अनेक रूपों को सगुफित करके लेखक न मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। ललित निबध की शैली में लिखा गया यह सस्मरण कथ्य एव शिल्प का अनोखा प्रयोग है। सस्मरण क लेखक की जीवन-दृष्टि को पहचानने के लिए पाठक को सजगता अपनाना पड़ेगी। सस्मरण में ताजगी एव लालित्य है।

3 परिवेश प्रधान

जयसिह नीरज का सरिस्का का अभयारण्य एक सस्मरण' में अभयारण्य के प्राकृतिक दृश्यों और जगली पशु-पक्षियों की जीवन-शैली का अकन मिलता है। लेखक ने दस-बारह किलोमीटर के अभयारण्य-विहार में पशु-पक्षियों को अत्यन्त समीप से उनके प्राकृतिक परिवेश में देखा-समझा है। लेखक ने वहा की मूर्तियों का भी अध्ययन किया है और उन्हें सास्कृतिक परिवेश से जोड़कर पहचाना है। विवरणों में परिचयात्मक शैली अपनाई गई है। इस प्रकार सस्मृत स्थल का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास इस सस्मरण में मिलता है। डा नीरज कवि भी हैं, अत उनसे अपेक्षा थी कि दृश्य की मनोरम छटा का बिम्ब पाठक तक पहुचाते। भाषा शैली में कथ्यानुरूपता है। पाठक को अभयारण्य का यह चित्रण स्वय भी उसे देख आने की प्रेरणा देगा।

इस सकलन में कथ्य का वैविध्य है जो पात्र एव घटना प्रधान सस्मरणों में प्रकट हुआ है। यह एक शुभ लक्षण है कि सस्मरणों में राजनीतिक प्रभाव अथवा वैचारिक प्रतिबद्धता का आग्रह नहीं मिलता। सस्मरणकारों की स्मृति को जिस विषय-वस्तु ने सर्वाधिक प्रभावित किया है उसी को उन्होंने चित्रित किया है। चित्रण-वैविध्य भी सस्मरणों में मिलता है। शिल्प के नाना रूप इनमें मिलेंगे।

राजस्थान में सस्मरण-लेखन क लिए प्रचुर सामग्री है। उसका उपयोग होना चाहिए। राजस्थान के साहित्यकारों के प्रति यथोचित श्रद्धा भाव जाग्रत होने पर उन्हें सस्मर्ण्य बनाने की आवश्यकता है। अपनों को यथोचित सम्मान देने पर हम भी सम्मानित होत हैं और साहित्य-सृजन में सहयोग एव प्रोत्साहन देते हैं।

विधा-विशेष में सृजन से पूर्व उसकी कला की सपूर्ण जानकारी कर लेने पर लेखक उन भ्रान्तियों एव भूलों से बच जाते हैं जिनकी ओर स्थान-स्थान पर इगित

किया गया है। प्रथम प्रयास में उत्कृष्ट मृति-सृजन की क्षमता प्रतिभासम्पन्न लेखकों मे तो मिलता है पर सामान्य लेखक अभ्यास से उसे अर्जन कर पाते हैं। मेरा विश्वास है कि नये सस्मरणकार भविष्य म भी सस्मरण सृजन में सचेष्ट रहेंगे।

भूमिका लेखन में 'राजस्थान का हिन्दी साहित्य' जो अकादमी का प्रकाशन है—मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। अकादमी न मुझे प्रस्तुत सकलन तैयार करने का अवसर दिया है। मैं आभारी हू।

सस्मरणकारों का सहयोग सपादक के लिए उत्साहवर्धक रहा। मैं उन सभी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अपना रचनाएं प्रेषित कर अपना सहयोग-भावना प्रदर्शित की है।

—डा कन्हैयालाल शर्मा
सपादक

भ्रमर की रसवृत्ति एव बाण की वेधकता के प्रतीक आचार्य 'शिलीमुख'

डा अम्बाशकर नागर

कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं, जिनका कृतित्व तो महान् होता है, किन्तु उनका व्यक्तित्व गौण होता है। इसके विपरीत कुछ का व्यक्तित्व महान् किन्तु कृतित्व गौण होता है। कुछ ही साहित्यकार ऐसे होते हैं जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही महान् होते हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रथम हिन्दी आचार्य प्रो रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख' ऐसे ही विरल साहित्यकार थे। राजस्थान के हिन्दी प्रेमी उन्हें कभी भूल नहीं सकते। हिन्दी साहित्य ससार में भी वे एक समीक्षक के रूप में सदैव याद किए जायेंगे।

अपने विश्वविद्यालयी जीवन में मुझे अनेक आचार्यों के निकट सपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वैदुष्य तो आचार्य नन्ददुलार वाजपेयी, आचाय हजारी प्रसाद द्विवदी आचार्य प विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प रमाशकर शुक्ल 'रसाल और डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा में भा प्रचुर था और वर्तमान आचार्यों में भी इसकी कमी नहीं है। किन्तु वैदुष्य के साथ व्यक्तित्व की जो विदग्ध एव आभिजात्य-चारुता आचार्य शिलीमुख जी में थी, वह अन्य आचार्यों से उन्हें अलग करती है।

मैंने शिलीमुख जी के प्रथम दर्शन महाराजा कॉलेज, जयपुर में प्रवेश प्राप्त करते समय सन् 1941 में किये थ। तब से लकर उनक न्विगत होने तक मैं उनका स्नेहभाजन बना रहा। आज, अर्धशती व्यतीत हो जाने के बाद, जब मैं उनके सस्मरण लिखने बैठा हू तो यह अनुभव कर रहा हू कि आचार्य शुक्ल जी सच्चे अर्थ मे 'शिलीमुख' थे। शिलीमुख' के दो अर्थ सुविदित हैं। एक भ्रमर और दूसरा बाण। उनमें भ्रमर की रसवृत्ति भी थी और बाण की वेधक शक्ति भी। इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें अपने समय का महान् समीक्षक बनाया था। प्रसाद और प्रेमचद को महिमा मडित बनाने वाले समीक्षकों में शिलीमुख जी सर्वोपरि थे।

जो लोग शिलीमुख जा क निकट सपर्क में आय हैं व जानत हैं कि इतने बडे साहित्यकार होने क बावजूद वे अत्यन्त सीधे और सरल व्यक्ति थे। जो भी उनके सपर्क में आता, उनके पारस-स्पर्श से कचन बन जाता था। जिन सौभाग्यशालियों को यह स्पर्श प्राप्त हुआ उनमें से एक मैं भी हूँ।

बात सन् 1942 की है। महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन जोरों पर था। महात्माजी विद्यार्थियों को आजादी की लडाई में कूद पडने का आह्वान कर रहे थे।

बाबा गोविंददास राजस्थान के कालेजों में घूम-घूम कर छात्रों को पढ़ाई छोड़कर गांधाजी के आन्दोलन में शामिल होने का अनुरोध कर रहे थे। गांधीजी की तरह बाबा गोविन्ददास भी तन पर कपड़े नहीं पहनते थे। स्थूल शरीर पर एकमात्र गमछा लपेट कर विचरते थे। एक दिन सहसा वे महाराजा कॉलेज, जयपुर में चालू क्लासों में घुस आये और धड़ल्लेदार अंग्रेजी में छात्रों को सम्बोधित करने लगे

'इन द नेम ऑफ द कन्ट्री, इन द नेम ऑफ महात्मा गांधी'
बॉयज़! कम आउट ऑफ योर क्लासेज। लीव दिस यूजलेस
एज्यूकेशन एण्ड सर्व योर कन्ट्री ।'

अधनंगे स्थूलकाय महात्मा का अंग्रेजी में दिया गया भाषण इतना प्रभावशाली था कि देखते ही देखते सब छात्र क्लासों से बाहर आ गए। कुछ दिन कॉलेज बन्द रहा मुझ पर उस भाषण का ऐसा प्रभाव हुआ कि उसी दिन से पढ़ना लिखना छोड़कर मैं बाबा गोविन्ददास जी के साथ हो लिया। फिर तो आगे आगे बाबा गोविन्ददास और पीछे-पीछे मैं। ऐसा जोशोजुनून और इसी धुन में मैंने दो तीन वर्ष बिता दिये।

उन्हीं दिनों एक घटना हुई। मेरे मित्र श्री राधाशरण जी जोशी ने जयपुर में मिर्जा इस्माइल रोड पर 'मॉडर्न आर्ट प्रिन्टर्स' नाम का बड़ा प्रेस शुरू किया। वे साहित्यिक अभिरुचि वाले मित्रवत्सल महानुभाव थे। प्रेस में जोब-वर्क करने के साथ-साथ युवा मित्रों के सहयोग से 'नया संसार', 'चाँदनी' आदि पत्रिकाएँ भी निकालते थे। कलाकारों, नवोदित कवियों, कलाकारों एवं साहित्य प्रेमियों का मिलन स्थल उन दिनों जोशी जी का मॉडर्न आर्ट प्रिन्टर्स ही था। श्री कपूरचंद जी 'कुलिश', श्री नन्दकिशोर जी पारीक, जो आज राजस्थान में जानेमाने महानुभाव हैं, उन दिनों भी मौलिकता एवं प्रतिभा के धनी थे। कुलिश जी उन दिनों नवोदित कवियों में अग्रगण्य थे। उनकी कविताएँ बड़ी पैनी और धारदार होती थीं और 'नया संसार' के मुखपृष्ठ पर छपती थीं। नन्दकिशोर जी पारीक प्रायः लेख और समीक्षाएँ लिखते थे। इनके अतिरिक्त संगीतकार दानसिंह जी, श्री प्रभुलाल पुरोहित, ललितकिशोर जोशी आदि की बैठक भी प्रेस में जमती थी। मेरे पास भी कुछ काम काज था नहीं। जोशी जी के साथ प्रेस में बैठा रहता था और उनके काम-काज में हाथ बँटाता था।

ऐसे में एक दिन आचार्य शिलीमुख जी प्रेस में पधारे। जहाँ तक मुझे याद है, उनकी 'भाषा' नाम की कोई लघु पुस्तिका वहाँ छप रही थी और वे उसका मशीन प्रूफ देखने और कुछ सूचनाएँ देने के लिए आये थे। शिलीमुख जी के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा थी। वे जाने लगे तब मैं उन्हें पहुँचाने के लिए नीचे तक गया। प्रेस के नीचे ही पानवाले की दुकान थी। शिलीमुख जी को पान का शौक था। मैंने उनसे पान खाने के लिए आग्रह किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

पानवाला पान लगाने लगा, मैं उनके सामने श्रद्धावनत खड़ा रहा। आचार्य शिलीमुख जी कुछ समय तक मेरी ओर देखते और मुस्कराते रहे। फिर मेरे कंधे पर हाथ रख कर स्नेह से कहने लगे

'नागर जी, बुरा न मानें तो एक बात कहूँ? आप कितने भी बड़े पत्रकार कवि या कलाकार क्यों न हो जाएँ, कहलायेंगे आप अनपढ़ ही।

इस अप्रत्याशित उद्‌बोधन ने मुझे नीचे से ऊपर तक झकझोर डाला। उनके कथन में सच्चाई थी। घर में रोकने-टोकने वाला तो कोई था नहीं, कॉलेज छोड़ने के बाद मैं अपना पूरा समय चित्र, संगीत और काव्य साधना में लगाता था और अपने-आप को कलाकार, कवि और न जाने क्या-क्या समझने लगा था।

शिलीमुख जी के एक ही वाक्यबाण से मैं मर्माहत हो उठा। मेरा सारा अहम् समस्त अस्तित्व छिन्न भिन्न हो गया। विगलित होकर मैंने पूछा, तो आप ही बताइये मुझे क्या करना चाहिए?'

'करना क्या है, आज कल फार्म भरे जा रहे हैं, कॉलेज में आकर इण्टर का फार्म भर दीजिए। तीन-चार महीने बाद परीक्षा हो जायगी। इण्टर करने के बाद अगले जून में आप बी ए में प्रवेश ले लीजिए। बी ए पास करके एम ए कर डालिए' उन्होंने मेरा कंधा थपथपाते हुए कहा।

पानवाले ने पान दिया शुक्ल जी पान खाकर विदा हुए किन्तु इन चार-पांच मिनटों में शुक्ल जी के मर्मवेधी शब्दबाणों ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी। दूसरे ही दिन कॉलेज में जाकर मैंने फार्म भरा, इण्टर में पास होकर उन्हीं की स्नेह छाया में मैंने राजस्थान युनिवर्सिटी से बी ए तथा एम ए किया। आचार्य शिलीमुख जी के पास मेरे साथ पढ़े सहपाठियों में स्व रूपनारायण पाण्डेय, डॉ कन्हैयालाल शर्मा, श्री कमल किशोर जैन, श्री बृजमोहन, श्री ललित किशोर जोशी, श्री प्रभुलाल पुरोहित आदि थे। इन सभी महानुभावों ने अपने-अपने क्षेत्रों में कीर्तिमान स्थापित किये। तब तक जयपुर में महिलाओं के लिए अलग से कॉलेज (महाराना कॉलेज) नहीं बना था। छात्र-छात्राएं साथ पढ़ते थे। छात्राओं में डॉ माधुरी दुबे और श्रीमती विमला शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ माधुरी दुबे राजस्थान युनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग की अध्यक्षा बनकर निवृत्त हुईं और श्रीमती विमला शर्मा को भारत की प्रथम महिला नागरिक (राष्ट्रपति शंकर दयाल जी शर्मा की पत्नी) बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

ईश्वर की कृपा से एम ए करते ही महात्मा गाँधी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में मैं हिन्दी का प्राध्यापक हो गया। कुछ वर्षों के बाद जब मैंने हिन्दीतर प्रदेशों की हिन्दी को देन विषय पर पीएच डी करने का प्रस्ताव आचार्य शिलीमुख जी के सम्मुख रखा तो उन्होंने कहा प्रस्तावित विषय निस्सदेह महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसमें अतिव्याप्ति दोष है। आप इसे हिन्दी साहित्य को गुजरात की देन तक ही सीमित रखें तो उचित होगा।

उनके सुझाव को शिरोधार्य करके मैं गुजरात लौट आया। दुबारा पीएच डी मे प्रवेश प्राप्त करने जयपुर गया तब तक वे निवृत्त हो चुके थे। उनके न्यिे विषय को मैंने गुरुवर डॉ सरनामसिह जी के निर्देशन में पजीकृत करवाया। कुछ वर्षों के बाद शोधकार्य पूरा हो जाने पर जब शोध-प्रवध को राजस्थान युनिवर्सिटी में प्रस्तुत करने जयपुर गया तो पता चला कि वे अस्वस्थ हैं। मैं मिलने गया, शोध-प्रबध मैंने उनके चरणों में धर दिया। अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने उसे आद्योपात देखा। देखने के बाद उन्होने कहा, गुजरात की हिन्दी सेवा को उजागर करके आपने एक मौलिक एव गवेषणात्मक कार्य किया है। शोध के अतिरिक्त इस विषय का सास्कृतिक महत्त्व भी है। इसलिए उपाधि के साथ-साथ इस शोध से आपको ख्याति भी मिलेगी।

बस यही उनसे मेरी आखिरी मुलाकात थी। इसके बाद जब डॉक्ट्रेट लेने जयपुर गया तब तक वे इस नश्वर ससार से विदा ले चुके थे।

यह आचार्य शिलीमुख जी की ही प्रेरणा थी जिससे उत्प्रेरित होकर मैं अध्ययन अनुशीलन में प्रवृत्त हुआ और गुजरात विद्यापीठ बडौदा युनिवर्सिटी और गुजरात युनिवर्सिटी मे लेक्चरर रीडर प्रोफेसर, डाइरेक्टर पद तक पहुँचकर सन् 1985 में सेवानिवृत्त हुआ। मैंने अपने कार्यकाल में सदैव आचार्य शिलीमुख जी की अध्यापन परपरा का ही अनुसरण किया। जो ज्ञानदीप उन्होंने राजस्थान मे मेरी हथेली पर रखा था वही अपने छात्रों को सौंप कर मैं कृतकार्य हुआ।

आज पूरे पचास वर्ष बाद सोचता हूँ कि आचार्य रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख' के उस प्रेरणादायी उद्‌बोधन ने मुझ जैसे जयपुर की गलियों में जन्मे और पढ़ना-लिखना छोड बैठे एक साधारण छात्र को कहाँ पहुँचा दिया। सतगुरु के शब्द-बाण की महिमा अपरपार है। उसके लगते ही मेरा अहम् विगलित हो गया और मैं सशय रहित होकर अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हो गया। कबीर के शब्दों में

सतगुरु साँचा सूरमा सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया पड्या कलेजे छेक।

याद आते है—वे दिन, वे लोग

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

अपनी आयु के इस अन्तिम चरण में याद आते हैं मुझे वे दिन जब मैंने लेखन के क्षेत्र में पदार्पण किया था, और वे सहृदय मित्रगण जिनके संसर्ग ने मुझे इस दिशा में प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

बात सन् 1927 के आसपास शुरू होती है जब अजमेर में सस्ता साहित्य मडल स्थापित हुआ था और उसके कार्यकलापों के अन्तर्गत 'त्यागभूमि' मासिक पत्रिका तथा सुलभ सत्साहित्य के प्रकाशन होने लगे थे। सस्ता साहित्य मडल रूपी साहित्य गगन में चमकने वाले नक्षत्र थे— 'त्यागभूमि के यशस्वी सपादक साहित्य मनीषी हरिभाऊ उपाध्याय, हकीकी शायरी के शायर क्षेमानन्द राहत, नाटककार जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, कवि हरिकृष्ण प्रेमी, साहित्यकार रामनाथ सुमन और बैजनाथ महोदय, पत्रकार मुकुट बिहारी वर्मा और शोभालाल गुप्त तथा इन सबके अलावा मडल के कुशल तथा कर्तव्यपरायण व्यवस्थापक मार्तंड उपाध्याय (हरिभाऊ उपाध्याय के छोटे भाई)।

उन दिनों मैं स्थानीय दयानन्द ऐंग्लो वैदिक हाईस्कूल में विज्ञान शिक्षक था। पूज्य पिताजी ग्यारसी लाल गुप्त के द्वारा डाले गये संस्कारों से साहित्य के पठन में तो बचपन से ही मेरी रुचि विकसित हो गयी थी और लेखक बनने की आकांक्षा भी अतश्चेतना में जमने लगा थी। इस अन्तश्चेतना ने चेतना का रूप 1928 में लिया और वह भी एक विचित्र सयोग से। जब मैं अजमेर के गवर्नमेन्ट कालेज में पढ़ता था तब वहा के पुस्तकालय में लन्दन से प्रकाशित होने वाली 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी एण्ड आफ्टर' नामक मासिक पत्रिका आती थी। इस पत्रिका का एक अक मेरे पास पड़ा रह गया था। एक दिन अकस्मात् ही अपने साहित्य सग्रह में वह अक मेरे हाथ में आ गया। कौतूहलवश उसमें छपे लेखों को पढ़ा तो 'व्हाट इज ब्यूटी'(सौंदर्य क्या है) शीर्षक लेख पर मेरी निगाह अटक गयी। तभी मन में कुलबुलाहट पैदा हुई कि इस लेख का हिन्दी रूपान्तर किया जाये तो कैसा रहे। बहुत सोच-विचार कर मैंने यह कार्य हाथ में लिया और अग्रेजी भाषा तथा विदेशी ढाचे के उस लेख का हिन्दी भाषा और देशी ढाचे में भाषान्तर तथा रूपान्तर कर दिया।

लेख तैयार होने पर सवाल पैदा हुआ कि इसे किस पत्रिका को भेजा जाये। उन दिनों हिन्दी में सरस्वती, माधुरी और चाद मासिक पत्रिकाए प्रकाशित हो रही थीं। इन उच्च कोटि की पत्रिकाओं में किसी का लेख छपना उसके लिए बहुत गौरव

की बात होती था। मुझे आशा तो नहीं था कि मेरा लेख स्वीकृत हो जायेगा, फिर भी हिम्मत करके 'सौन्दर्य' शीर्षक से अपना वह लेख 'चाद' को भेज दिया। कुछ ही दिनों बाद जब 'चाद' के संपादक रामरखसिंह सहगल का लेख की स्वीकृति का पत्र मिला तो मेरा दिल बांसों उछलने लगा।

यह लेख 'चाद' के मार्च 1929 के अक में छपा और इसकी प्रति डाक से मुझे मिला। इस प्रति को लेकर मैं सस्ता साहित्य मण्डल के कार्यालय में गया जो बाबू मोहल्ले में दयानन्द हाईस्कूल के समीप ही था। वहां 'त्यागभूमि' के उपसपादक मुकुट बिहारी वर्मा तथा अन्य साहित्यकारों ने मेरा लेख पढ़ा तो उन्हें कुछ विस्मय हुआ। शायद उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि यह मेरी रचना है।

मुकुटजी ने उपस्थित महानुभावों से मेरा परिचय कराया और कहा— आप तो बहुत अच्छा लिखते हैं। 'त्यागभूमि' के लिए भी लिखा कीजिये। उस दिन से सस्ता साहित्य मडल के साथ मेरा सबध गाढ़ा होता गया और मेरे कई लेख 'त्यागभूमि' के अकों में छपे। साथ ही मडल में कार्यरत साहित्यकारों से भी मिलना-जुलना होता रहा और हम लोग आपस में खूब हसी-मजाक भी करते थे। फिर 1932 के असहयोग आन्दोलन में सरकार ने सस्ता साहित्य मडल पर कब्जा कर लिया और उसकी गतिविधियां बन्द हो गयीं। एक वर्ष बाद प्रतिबध हटने पर 'त्यागभूमि' का प्रकाशन मासिक से साप्ताहिक कर दिया गया। इसमें भी मैं 'जटायु' के उपनाम से 'गृद्ध दृष्टि' शीर्षक स्तभ लिखता था। फिर किन्हीं कारणों से मडल का कार्यालय दिल्ली स्थानान्तरित हो गया परन्तु मेरा उससे सपर्क बना रहा।

इस बीच मैं 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'लीडर', 'फ्री प्रेस बर्नल' के सवाददाता के रूप में पत्रकार बन गया था।

इस प्रकार पत्रकारिता तथा लेखन के क्षेत्रों में मेरी यात्रा आरभ हुई जो कई मजिलें पार करती हुई अभी तक अनवरत रूप में चल रही है। अपनी ओर से एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं। मैंने पत्रकारिता तथा लेखन के क्षेत्रों में थोड़ी बहुत ख्याति जरूर प्राप्त की है, फिर भी मैं साहित्यकार होने का दभ नहीं भरता।

यह है मेरी इस यात्रा की पहली मजिल का विवरण, मौका पड़ने पर आगे की मजिलों का भी फिर कभी वर्णन प्रस्तुत करूंगा।



मेरे साहित्य जीवन के चिरस्मरण

जनार्दनराय नागर

मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातक और स्नातकोत्तर अध्ययन के लिये सन् 1933-34 ई. में बनारस गया। वहाँ पढ़ने के साथ-साथ मैंने मुंशी प्रेमचन्दजी से परिचय ही प्राप्त नहीं किया अपितु उनका पितृ-स्नेह मेरे सौभाग्य से मुझे मिला। मैं सध्या समय सरस्वती प्रेस हस कार्यालय में पहुँच जाया करता था और मेज कुर्सी पर सुशोभित कलाकार की मूर्ति के समान प्रेमचन्दजी को आँखों में भर लिया करता था। प्रेमचन्दजी मुझे देखते ही सब काम छोड़कर उठ खड़े होते थे और मुझे कहते थे, 'चलो, वाराणसी के मार्गों पर हम दोनों जागृत भारत का दर्शन प्राप्त करने की कोशिश करेंगे।' मैं और प्रेमचन्दजी तब वाराणसी की गलियों और मार्गों में सारे भारतवर्ष की चर्चा किया करते थे। मैं शिष्य था और श्रोता तथा प्रेमचन्दजी शिक्षक और मार्गदर्शक गुरु हो जाया करते थे।

एक सध्या को वह मुझे घूमते-घामते दाल मण्डी ले गये और एक छोटी-सी दुकान के सामने खड़ा कर दिया। मैंने देखा, एक बड़ी दुकान के नीचे की दुकान में एक भव्य पुरुष बैठा हुआ था और सुंघनी तोल रहा था। प्रेमचन्दजी ने कहा, 'यह जयशंकर प्रसाद है, प्रणाम करो।' मैंने आश्चर्य से मन ही मन प्रणिपात किया। मन के चित्ताकाश में 'कामायनी' के कुछ छन्द गूंजे और मैं प्रसादजी के सहसा दर्शन कर धन्य हो गया। प्रेमचन्दजी ने कहा, 'प्रसादजी, यह युवक उदयपुर से आ रहा है और चाहता है आपके आशीर्वाद इसे प्राप्त हों। प्रसादजी मुलके और कहा, 'जरूर मिला करो। प्रेमचन्दजी और मैं तुम्हें साहित्यिक रचना के लिये सहायता करेंगे।' तब से मैं जयशंकर प्रसाद के यहा जाने लगा। महाकवि प्रसाद तब से आज दिन तक मेरे चित्ताकाश में भारतीय कवि के अन्यतम आदर्श के रूप में अंकित हैं और रहेंगे।

प्रसादजी के यहा मैं आता-जाता रहा और मैं उनको चुपचाप सुनता रहा। जयशंकर प्रसादजी के यहा भारत का दिव्य कवि-हृदय बसता था। मुझे जैसे प्रसादजी बिन बोले ही प्रेरणा देते रहते थे और उनको मैं अपनी कृतियाँ सुनाता रहता था।

प्रसादजी के यहा हिन्दी के बड़े लोग आते ही रहते थे। मैं एक दिन तीसरे प्रहर सदा की तरह पहुँचा। वहा उस समय जैनेन्द्रकुमारजी और अज्ञेयजी प्रसादजी के पास में बिराजे हुवे थे। प्रसादजी ने मुझे देखते ही कहा, 'तुम्हारी कमी थी, तुम आ गये बैठो।' और मुझे अपने घुटने के पास बिठा लिया। प्रसादजी ने उत्साहपूर्वक कहा, 'तुम लोगों को 'कामायनी' सुनाता हूँ।' और अपना 'कामायनी' का खाता खोल कर

लज्जा सर्ग गुनान लग। मैं मन्त्रमुग्ध सुनता रहा और अज्ञेयजा और जैनेन्द्रकुमारजा सहज हा अपने में स्थिर बैठे हुए प्रसान्जा का सुनने रहे। दोनों प्रसान्जा के स्वर क साथ साथ चित्ताकाश में माना लहरते थ। प्रसान्जा त्रिकाल को भूले हुए कामायना का घन सुन्दर न्व्यि आह्वान कर रहे थ। सहसा प्रसान्जा ने सुनाना बन्द करते हुए पूछा कैसा लगा? जैनेन्द्कुमार ने ना टूक उत्तर न्यिा, यह सब प्राजक है (गद्यवत् है) प्रसादजा यह सुनकर हठात् मन हा मन माना छिप गय। अज्ञेयजा और जैनेन्द्रजा दोनों हा बाले अब चलागे। प्रसान्जा न एक विचित्र निराशापूर्वक कहा, ला कर्म आ गई। थोड़ा और सुनो। और कामायना' का लज्जा स्वर्ग तपाक स सुनान लग। जैनेन्द्रजा और अज्ञेयजा दोनों वर्षा य तनिक रुक्त हा उठ खड़ हुए। दानों आगे-आगे पाछे प्रसान्जा। प्रसान्जा के पाछे मैं द्वार की ओर चले। बिन बोले हा प्रसान्जा क द्वार से निकल कर बाहर चलने लगे। प्रसान्जी घूम और कहा, तुम नहीं गय?' मैंने दीनभाव से कहा मुझे सुनाइये कामायना'। मुझे सुनाई। प्रसान्जा ने फिर से देखा और प्रसन्न वदन होकर कहा, चलो' और महाकवि न मुझे आसन पर बिठा न्यिा और सरस स्वर में कामायना गायन आरम्भ किया। बाद में प्रसान्जा ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सुहासिनी द्वारा गाया एक गीत सुनाया जिसकी एक पंक्ति है— हे लाज ! सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों? प्रसान्जा के ये शब्द मरे चित्ताकाश में गूज ही रहते हैं। कामायनी निसंदेह लाज भरे सौन्दर्य की न्व्यि और गूढ़ अनुभूति है। उस दिन मैंने प्रसादजी के प्रसन्न मुख मण्डल को देखकर मानो कालजयी महाकवि के दर्शन किये।

हिन्दू विश्वविद्यालय की पढ़ाई-लिखाई के बाद सीधा प्रेमचन्दजी के यहा सरस्वती प्रेस पहुँच जाया करता था। वाराणसी का साहित्य जगत् ध्रुव तारे की भाँति प्रेमचन्दजी के मकान के आकाश में मानो चमकता रहता था। मुशा प्रेमचन्द स्वय हिन्दी कथा साहित्यकोश के मानो ध्रुव तारा थे। तारों की जमघट की हलचल से दूर ध्रुव तारे की भाति मुशी प्रेमचन्द भारत के हिन्दी आकाश को मानो जगमगाते रहते थे। मैं प्रेमचन्दजी के पास बैठा हुआ स्वय को साहित्यिक दृष्टि से एक विश्वस्त लेखक माना करता था। प्रेमचन्दजी ने हस में मेरी 16-17 कहानियाँ प्रकाशित कीं और मुझे हिन्दी के कथा साहित्य में प्रतिष्ठित किया। अवश्य जैनेन्द्रकुमारजी प्रेमचन्दजी के बड़े निकट थे। मैं तो छुटभैया था। जैनेन्द्रकुमारजी की अस्मिता छुटभैयों को न तो पचा पाती थी और न स्वीकार ही करती थी। प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रकुमारजी के उपन्यास परख की आलोचना हस के लिये मुझे लिखने को कहा। हस में आलोचना पढ़कर जैनेन्द्रजी बहुत नाराज हुए। इलाहाबाद से वाराणसी आकर प्रेमचन्दजी से उलझ पड़े। महात्मा गाधी के व्यक्तित्व के आदर्शवाद को अपने पत्र में अंकित कर जैनेन्द्रजी जीवन के आधारभूत मनोविज्ञान के विरुद्ध ही अपनी राय दिया करते थे। लेखक शास्त्र को उजागर करता है और मानो प्रकृति के आधारभूत तथ्यों को आयाम दिया करता है। जैनेन्द्रजी बहस में झुकने को तैयार नहीं होते थे किन्तु मैं अपनी आलोचना के आधारभूत

तथ्य पर दृढ़ रहा। प्रेमचन्दजी इसको मानो समझ गये। जैनेन्द्रजी ने मुझे इस घटना के लिये कभी क्षमा नहीं किया। जैनेन्द्रजी निसंदेह बड़े रचनाकार थे और हिन्दी जगत् की प्रेमचन्दजी की भावी आशा थे। प्रेमचन्दजी जैनेन्द्रकुमारजी में हिन्दी साहित्य के भविष्य को सुरक्षित मानते थे। बम्बई में प्रेमचन्दजी ने पत्रकारों से कहा, 'हिन्दी साहित्य का भविष्य जैनेन्द्र और जनार्दन में सुरक्षित है।' आज बाबूजी प्रेमचन्दजी नहीं रहे और जैनेन्द्रकुमारजी भी नहीं रहे और मैं उदयपुर के क्षितिज के परे प्रेमचन्द के उक्त स्मरणीय शब्दों की प्रतिध्वनि सुना करता हूँ। साहित्य का भविष्य जीवन की अन्तरात्मा ही इंगित करता है।

इसमें कोई शक नहीं जैनेन्द्रजी और अज्ञेयजी दोनों ही हिन्दी जगत् के राजकुमार की भांति थे। अज्ञेयजी तो मानो चलती-फिरती संगमरमर के पाषाण की मूर्ति थे। जीवन के अगाध रहस्यों को जानने के लिये झुकी हुई उनकी पलकें बुद्धि के आकाश को नापा करती थीं। तब जैनेन्द्रकुमार रचनाकार थे, सृजन धर्मी थे और हमारे बड़े साहित्यकार थे। जैनेन्द्रजी से मेरा मन का सम्बन्ध हो गया, पर अज्ञेयजी से न हो सका। अज्ञेय हिन्दी साहित्य के कृतविद्य मनीषी थे और हिन्दी साहित्य के इस युग के गहन चिन्तक भी थे। तब जैनेन्द्रकुमार प्रेमचन्दजी के शब्दों में 'हमारे बड़े प्रेरणा देने वाले साहित्यकार थे।' मैं इन दोनों की पुण्य स्मृति को नमस्कार कर अपने को धन्य पाता हूँ।

प्रेमचन्दजी, जैनेन्द्रजी और 'माँ' (प्रेमचन्दजी की धर्मपत्नी) यह चाहते थे कि मैं प्रेमचन्दजी की प्रेरणा में लिखूँ। 'माँ' और जैनेन्द्रजी ने 15 दिन तक उदयपुर आकर मुझे लताड़ते हुए समझाया कि मैं लिखूँ और संस्था आदि का प्रपंच न करूँ। किन्तु विधाता का प्रस्ताव कौन मेट सकता है। आज न तो प्रेमचन्दजी हैं न जैनेन्द्रजी और न माँ हैं। मैं हूँ और इनकी दिव्य स्मृतियाँ हैं और विश्वविद्यालय राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर है।

मैं हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने महान् आचार्यों को याद करता हूँ तो आज भी मुझे जीवन की यह दिव्य अस्मिता का अनुभव होता है और मन में गर्व उत्पन्न होता है कि मैं हरिऔध का शिष्य हूँ, श्यामसुन्दर दास का विद्यार्थी हूँ और रामचन्द्रजी शुक्ल का मौन श्रोता हूँ। हिन्दी साहित्य के ये युग निर्माता मेरे जैसे अनेक विद्यार्थियों को प्रेरणापन्न किये हुवे हैं। ये लोग केवल शिक्षक ही नहीं थे, विद्यार्थी की अन्तरात्मा में सुप्त साहित्यकार को जगाने वाले भी थे। मैं मानो शुक्लजी के सान्निध्य में धन्य हुआ, श्यामसुन्दर दास के पास बैठकर कृतार्थ हुआ और हरिऔध से जीवन का मंगलमय आशीर्वाद प्राप्त कर मदन मोहन मालवीय के चरणों में प्रणाम करता रहा। राजस्थान में हिन्दी के आधुनिक युग का उदय हो और लेखक-लेखिकायें कलरव करती हुई राजस्थान के युगों के साहित्यिक मौन को भंग किया करें। मेरा यह लक्ष्य आज पूरा हो गया है। राजस्थान आज के दिन युग-बोधक साहित्यकारों से पुलकित है। राजस्थान

साहित्य अकादमी एक विशाल वट वृक्ष की भांति साहित्यिक पादपों का स्वागत कर रहा है। पूजा कर रहा है और भविष्य के लिए मार्ग बना रहा है। आज राजस्थान में सभी भाषाओं की अकादमियाँ स्थापित हो गई हैं और मैं स्वयं को एक विश्राम तीर्थयात्रा को समाप्त कर उदयपुर के क्षितिज के पार देख रहा हूँ। मुझे ज्ञात है अकादमियाँ युग बोधक होती हैं, युग निर्माता नहीं। साहित्य और संस्कृति का युग बोधक अमूल्य प्रेमचन्द जैसे महान् लेखक ही कर सकते हैं। प्रेमचन्दजी ने मुझमें क्षितिज के पार साधना करने वाला साधक जगाया और मैं उस साधक की साधना में राजस्थान में साहित्यिक युगों का स्वप्न देखने लगा हूँ। वस्तुतः प्रेमचन्दजी ने मुझे लेखक बनाया और मैं प्रेमचन्दजी के करुणामय आशीर्वाद से भरपूर होकर प्रेमचन्दजी और सरस्वती प्रेस को अपने अन्तर में आज भी मानो देखा करता हूँ। एक सपने पर दूसरा सपना देखते हुए प्रेमचन्दजी मानो भारत के साहित्यिक युग का आह्वान किया करते थे। अपने औपन्यासिक पात्रों की धारणा कर वे मन ही मन स्वयं को पूर्ण पाया करते थे।

प्रेमचन्दजी की कृतियां भारतीय पात्रों की उद्बोधक और प्रेरक कृतियां हैं। प्रेमचन्दजी को पढ़कर हम भारत को पढ़ लिया करते थे। प्रेमचन्दजी के उपन्यास 'रंगभूमि' का सूरदास कई अर्थों में भारतीय अन्तरात्मा का प्रतिनिधि पात्र है। एक बार प्रेमचन्दजी ने हँसते हुए मुझसे कहा, 'मैं एक ऐसा प्रेमी पात्र अंकित कर रहा हूँ जो अपना प्रियतम को देखने नहीं देता।' प्रेमचन्द स्त्री-पुरुषों के प्रेम के मामलों में यथार्थवादी थे, आदर्शवादी कम। प्रेम के जीवन का आदर्श प्रेम के मंगलमय कोलाहल में व्यक्त हुआ करता था। भारतीय जीवन की (व्यक्तिगत और सामाजिक) धारणायें प्रेमचन्द के पात्रों का जीवन-संघर्ष बना हैं। प्रेमचन्द अपने मन के नैनों से एक विशाल भारत के संघर्षमय जीवन को मानो देखा करते थे और मैं उनके सुनहरे नैनों में भारत को तैरता हुआ मानो देखा करता था। प्रेमचन्द बीतते हुए प्राचीन भारत और उन्नीयमान भारत के मानो कलम के धाता विधाता थे। मैंने प्रेमचन्दजी के पास बैठकर मानो भारत के त्रिकाल के संघर्ष की चेतनायें प्राप्त की। प्रेमचन्द मेरे साहित्यिक पिता, साहित्यिक गुरु और लेखक के जीवन के आचार्यवर थे। प्रेमचन्द मेरे लिये भारतीय लेखक का चैतन्य, आत्मविश्वास और जीवन थे। मैं भारत की धरती और आकाश को प्रेमचन्दजी की कृतियों के पात्रों में विविध रूपों और आयामों में विधाता की आंखों में रमा हुआ पाता हूँ। प्रेमचन्द हिन्दी की 20वीं शताब्दी के युग-प्रवर्तक थे। प्रेमचन्द प्रेमचन्द थे।

प्रेमचन्दजी की मुहियमान स्मृतियों से सरक कर मैं जैसे रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी गद्य के समर्थ सशक्त वायुमण्डल में प्रवेश कर जाता हूँ। आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माताओं में रामचन्द्र शुक्ल अधिकृति और गुरु दोनों ही थे। वे हिन्दी गद्य को मानो लिखा ही करते थे बोला नहीं करते थे। एक बार बी ए की कक्षाओं में शुक्लजी ने

मुझसे कहा, 'मेरी पुस्तक प्रेस में है, प्रकाशित होने पर उसे पढ़ लेना। तुमको तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल जायगा।' मैंने उसके बाद शुक्लजी से न तो कोई प्रश्न पूछा और न ही उनसे कोई विवाद ही किया। सधी-सधाई, कसी-कसाई और जमा-जमाई भाषा में लिखा शुक्लजी का हिन्दी गद्य हिन्दी साहित्य का मानो राज-मार्ग है। आज के दिन हिन्दी गद्य के युग-निर्माताओं में शुक्लजी के साथ साथ श्यामसुन्दरदास, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि हिन्दी-गद्य के प्रणवीर लेखक थे। श्यामसुन्दरदास तो मानो हिन्दी गद्य का पठनीय संगीत ही लिखा करते थे। बी ए की कक्षा में मैं उनको मंत्रमुग्ध होकर सुना करता था और अपने मन के चित्ताकाश में इनके हिन्दी गद्य की संगीतमय प्रतिध्वनियाँ सुना करता था। श्यामसुन्दरदास हिन्दी गद्य के मानो गायक थे—लेखक तो वे थे ही। हिन्दी गद्य के युगनिर्माताओं में श्यामसुन्दरदास अंग्रेजी के महान् लेखक टेनिसन के समान थे। शब्दों की ध्वनियाँ श्यामसुन्दरदास के मुख में शारदा की वाणी की खनकार के समान गूंजा करती थीं। ऐसे हिन्दी गद्य को समर्पित एवं प्रणेता हिन्दी गद्य के सौभाग्य के लिये सदैव याद किये जाते रहेंगे। वासुदेवशरण अग्रवाल, श्यामसुन्दरदासजी के साथ-साथ हिन्दी गद्य के पुण्य श्लोक लेखक थे। ये लोग हिन्दी को जगा गये और नई काया-माया प्रदान कर हिन्दी विश्व भारती को जगमगाते रहे। श्यामसुन्दरदास और वासुदेवशरण अग्रवाल हिन्दी गद्य के समर्थ लेखक तो थे ही, किन्तु साथ में हिन्दी गद्य के सुघु सुन्दर कलाकार भी थे। मैं श्यामसुन्दरदास को हिन्दी शब्दों की मुखर प्रतिध्वनियों में याद करता हूँ।

महाकवि हरिऔध (अयोध्यासिंह उपाध्याय) से भी मैं मिला करता और उनसे 'प्रियप्रवास' सुना करता था। हरिऔध का 'प्रियप्रवास' उस समय हिन्दी महाकाव्यों में बड़ा प्रसिद्ध था। मैं तो उसकी कुछ पंक्तियों को गुनगुनाता और गाया करता था। मैं जैसे एक भ्रमर था और 'प्रियप्रवास' के छन्दों पर मंडराया करता था। हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' का प्रत्येक छन्द हिन्दी काव्य के वसन्त में रसमय कुमुदनी का फूल है। 'प्रियप्रवास' हिन्दी काव्य की कृतियों में से एक है। मैं हरिऔधजी को 'प्रियप्रवास' ही कहा करता था। नव नव कुसुमों के पास जा मुग्ध हो-हो गुन-गुन करता है, पर न सुनता है। हमारी व्यथायें मधुकर तू इतना क्यों हो गया निर्दय है। हरिऔध ने राधाकृष्ण की प्रीति और विरह का यह गीत गाकर हिन्दी कविता को काव्य के यमुनातट पर मानो अनहद नाद ही देने का प्रयास किया है। राधा कृष्ण को लेकर सूरदास जैसे महाकवियों ने भी लिखा है। किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय के इस सरल निष्णात आचार्य कवि के 'प्रियप्रवास' की तुलना नहीं की जा सकती। हरिऔधजी का महाकाव्य 'प्रियप्रवास' हिन्दी परम्परागत महाकाव्यों का अन्तिम युग था। 'साकेत' तो लिखा गया, किन्तु 'प्रियप्रवास' के समान कोई महाकाव्य का अवतरण नहीं हुआ। छोटे-मोटे प्रबन्ध काव्य लिखे जाते रहे। मैं इन काव्यों की निर्झरणियों को देखते हुए पुनः हिन्दी के किसी महाकाव्य का आह्वान किया करता था।

दिनकर राष्ट्रीय चैतन्य और गौरव के उद्धारक कवि प्रतिष्ठित हुए। उदयपुर से उनका सम्पर्क बढ़ा और वे राजस्थान साहित्य अकादमी और राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर को जानने-पहचानने लगे तब एक संघर्ष भारत में अनायास ही छिड़ गया। महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तानी का इन्द्रजाल फैलाने की कोशिश की और राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षितिज को बेमतलब कर दिया। मुझे राजर्षि टण्डन और राष्ट्र प्रहरी माखनलालजी चतुर्वेदी ने पुकार कर कहा, उदयपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन कर और राष्ट्रभाषा हिन्दी का गगन-भेदी स्वर गुंजा। मैंने कहा, 'उदयपुर तो बहुत छोटा-सा शहर है और यह काम अत्यन्त कठिन होगा।' टण्डनजी ने मुझे कहा—फटकार कर कहा, तेरे राजस्थान में राजस्थानी का आन्दोलन चल रहा है और बापू अपनी हिन्दुस्तानी को लेकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरुद्ध खड़े हो गये हैं। यह अवसर राष्ट्रभाषा के लिये जीवन-मरण का समय है। उदयपुर जा और महाराणा से कह राष्ट्रभाषा हिन्दी के उद्घोष के लिये राष्ट्रभाषा हिन्दी साहित्य का सम्मेलन उदयपुर बुलाना है। मैंने टण्डनजी के निवेदन को महाराणा श्री भूपालसिंह जी को समर्पित किया और सारा मेवाड़ मानो राष्ट्रभाषा हिन्दी की वन्दना के लिये जाग खड़ा हो गया। बापू के हिन्दुस्तानी के विपरीत राष्ट्रभाषा हिन्दी का महायज्ञ विद्यापीठ उदयपुर की सलेटिया की भूमि में आरंभ हुआ। हमने भारत के कोने कोने से आये हुए हिन्दी के महान् व्यक्तियों और हिन्दी संसार के उत्साहपूर्ण जमघट की साक्षी से भारत की दिगदिशा से मानो कहा—उदयपुर ने कहा—हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है—और होकर रहेगी। मैंने तब गाया हिन्दी भारत की वाणी/सदियां बीती पुण्य गिरा यह हमने है जानी/हिन्दू रोया मुस्लिम रोया दोनों हँसे इसी में/दोनों ने युग सपने अपने पाये इसी में। उदयपुर की ये ऐतिहासिक घोषणा पीछे संविधान सभा ने स्वीकार की और हिन्दी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप अभिषेक हुआ। सभी राष्ट्रीय हिन्दी कवि राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस जय निनाद को अपनी वाचा में भर कर हिन्दी के राष्ट्रभाषा अभिषेक की वन्दना करने लगे। हिन्दी निस्संदेह भारत की राष्ट्रभाषा है। सम्पर्क भाषा ही नहीं। कोटि-कोटि भारतवासियों की हृदयस्थ चैतन्य से परिपूर्ण भारत राष्ट्र की वाणी है। रामधारीसिंह दिनकर इस बात को जानते थे, समझते थे किन्तु वह नई कविता के सम्मोह में पड़ गये और उनकी परशुराम प्रतीक्षा प्रतीक्षा ही रह गई। सारा भारत जागा हिन्दी के गौरवमय छन्द से जागा। इस संगीतमय जागरण में मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्र को साकेत बताया। रामचरित मानस और साकेत की तुलना नहीं की जा सकती। तुलसीदासजी का रामचरित मानस भारत का उद्बोधन है किंतु मैथिलीशरण का साकेत भारतीय नई चेतना का पड़ाव है। सच तो यह है भारत राष्ट्र का उद्बोधन करने वाले कवियों और लेखकों के साथ-साथ नया भारत राष्ट्र कवियों की ओर देखता हुआ जी रहा है—चल रहा है।

नये भारत के चैतन्य बोध से भरी हुई मेरी साहित्यिक सम्पर्क की स्मृतियाँ मेरे इस भव को मानो कृतिविद्ध और सफल कर रही हैं। भारत के नये उद्बोधन के

चैतन्यों को लेकर एक के बाद एक लेखक और कवि कहते रहे, गाते रहे, लिखते रहे। हम हिन्दी लेखकों ने अपने महान् लेखकों के साथ-साथ भारत पुकारा है और यह पुकार आज मानव जाति का नया उद्बोधन हो गई है। हरिवंशराय बच्चन का मयखाना मानो सूना हो पड़ा रहा और मेघराज मुकुल की सेनाणी राजस्थान की सेनाणी होकर आज भी गूंजती रहती है। मेघराज मुकुल आज के युग का राजस्थान का कवि है। राष्ट्र कवियों के साये में अपने मयखाने के साथ घूमने वाले कवि भुला दिये गये हैं और तभी मुझे महाकवि निराला याद आते हैं। एक अंधेरी आधी रात को मैंने और निरालाजी ने बिन बोले ही रेल में यात्रा की है। ट्रेन चलती रही मैं इस यूनानी देवता को अपलक बैठा देखता रहा। निराला बैठे रहे अतीत को पलकों में दबाये रहे और भविष्य को अपनी आँखों में समाये निरालाजी ने मुझे मानो भारत की धरती और आकाश का बोध कराया। ●

उस विलक्षण महा-मानव के साथ चालीस साल

डा रामचरण महेन्द्र

तब मैं आगरा के सेन्ट जौन्स कालेज के पास बाग मुजफ्फर खाँ नामक मुहल्ले के ऊपर की मजिल के एक कमरे में अकेला विद्याध्ययन करता था और अग्रेजी विषय लेकर एम ए कर रहा था। एक दिन एक लम्बे पतले-दुबले खादी का लम्बा सा कुरता खादी की ही मैली सी धोती चप्पलें पहिने एक भोले भाले से ग्रामीण लगने वाले व्यक्ति ने मेरे कमरे में प्रवेश किया।

वे यह ज्ञात करके आये थे कि मैंने बी ए में हिन्दी एव फिलासफी ऐच्छिक विषय लिए थे और हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं में छपता रहा हूं। उन्होंने बातचीत के दौरान मुझे बताया कि वे आगरा के फ्रीगज में रहते हैं, आर्य समाजी हैं और एक अखबार में काम करते हैं, उन्हें पत्रकारिता का शौक और अनुभव है, किन्तु अग्रेजी नहीं जानते हैं। यही उनकी समस्या है।

उन्होंने अपने झोले से एक नन्ही-सी पत्रिका निकाली। वह आज की बहुप्रतीक्षित अखण्ड-ज्योति की एक प्रारम्भिक प्रति थी। यह पत्रिका शुरू की है। इसमें अध्यात्म भारतीय सस्कृति स्वास्थ्य, धर्म आदि विषयों पर लेख हैं। मैं चाहता हूं कि इसके सम्पादन में आप अग्रेजी साहित्य में प्रकाशित मान्य ग्रन्थों की उपयोगी सामग्री देकर सहायक बनें। उनके चेहरे बातचीत और आत्मभाव ने मुझे प्रभावित किया। भोला भाला मधुर स्वभाव था। मैंने उनका आग्रह इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि वे मुझे अग्रेजी की स्टेण्डर्ड पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाए तथा पुरानी फाइलें, लेखन सामग्री तथा कुछ आर्थिक सहायता उपलब्ध कराते रहेंगे। ऐसा सहयोग चाहने वाले और कोई नहीं, आचार्य श्रीराम शर्मा थे जिन्होंने सम्पूर्ण आयु देशभर में गायत्री-शक्तिपीठों की स्थापनाए की और चरित्र-निर्माण नैतिक जागृति का अलख जगाया तथा जिनकी युग निर्माण योजना मथुरा ने देश की दिग्भ्रमित युवापीढ़ी को आकृष्ट किया है। आज मैं 1939 के अपने पुण्य-सकल्प दिवस को अपने पुण्यकर्मों तथा लेखन का प्रतिफलन मानता हूँ। जिस उन्नत स्थिति पर पहुँचा हू वह उसी महा मानव का सत्सग रहा है। आरम्भिक दिनों में अखण्ड ज्योति के सम्पादन में मैं सदा उनका सहायक मित्र बना रहा। उनसे बहुत कुछ सीखा और मार्गदर्शन पाया। मैंने जो कुछ लिखा उन्होंने उसे प्रकाशित किया। वे मेरे घर और मैं एक पारिवारिक सदस्य की तरह उनके साथ जिया।

उन प्रारम्भिक दिनों में पत्रिका का आर्थिक पहलू बडा कमजोर रहा। उन्होंने योजना बनाई कि सस्ती पुस्तकें आर्थिक सहायता के लिए प्रकाशित की जाय। पहले

उन्होने अध्यात्म, धर्म, कर्मकाण्ड आदि धार्मिक विषयों पर छ पुस्तका का अपना सेट प्रकाशित किया, किन्तु मार्केट में उन्हें बेचना सरल न था। मुँह लटकाए कहने लगे 'इनके साथ हमें कुछ रोचक, उपयोगी, नये मनोविज्ञान, स्वास्थ्य सम्बन्धी सेट और छापने चाहिए। उनके साथ ये भी बिक जायेंगी। आपके जो दैनिक जीवन और मनोविज्ञान सम्बन्धी उपयोगी लेख अखण्ड ज्योति में छपे हैं, उनमें कुछ और नये लेख जोड कर छ पुस्तकें तैयार कर दीजिए। इनकी पाठकों में माग है।'

मेरा पहला सेट स्वास्थ्य, सौन्दर्य, यौवन और दीर्घजीवन पर था। यह मार्केट में चल निकला। बिक्री बढ़ी। उधर पत्रिका को धर्म के नाते दान भी मिलने लगा। किसी प्रकार पत्रिका की छपाई का खर्चा निकलने लगा। मुझे तो सरकारी नौकरी मिल गई, पता नहीं श्रीरामजी ने कैसे जीविका चलाई होगी। वे बड़े सरल सान्त आदमी थे। दो वक्त भोजन तथा सादा रहन-सहन, मितव्ययी और अत्यधिक मधुर मिलनसार होने के कारण अखण्ड ज्योति' संस्थान चल निकला। पत्रिका की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए हमने गर्मियों की छुट्टियों में आत्मोन्नति की सकारात्मक योजना चालू की। मुझे ऐसे कोर्स तैयार करने पड़े जो दो मास में पूरे हुए। लगातार भाषण देने पड़ते। यद्यपि विद्यार्थियों से कोई फीस नहीं ली जाती थी, पर वे स्वय ही दान में इतना अधिक दे देते कि वर्ष का खर्चा निकल आता था। बाद में हमारे इस परिवार में श्री शभुसिंह कौशिक, श्री भगवानस्वरूप श्री चमनलाल जी, प लीलाचन्द शर्मा आदि अनेक नि स्वार्थ सेवी सस्था से आ जुडे। समाज में नि स्वार्थ सेवी सस्था के रूप में मान्यता मिली।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, श्रीराम शर्मा जी का अध्ययन, तपश्चर्या, पूजा-आराधना, अनुभव, जान-पहचान बढ़ती गई। वे सत, सिद्ध, योगी विचारक और समाज-सुधारक के रूप में जाने पहचाने लगे। लोगों ने उन्हें कितने हा रूपों में देखा-परखा और सराहा। वे अपने उच्च उद्देश्यों में गजब के पक्के थे। पूजा-आराधना, यज्ञ गायत्री-साधना का मत्र लेकर उन्होंने सेवा का एक नया क्षेत्र खोज निकाला। वे बड़ हा सकोची स्वभाव क थ। अपने विषय में बहुत कम बताते थे। प्रवचनो मं यदाकदा अपनी रुचि, स्वभाव, जीवन के बारे में कुछ बतलाते। मेरे साथ तो काफी खुल गये थे।

मैं 1960 से अनेक वर्षों तक उनक घर परिवार का अग बन कर रहा। जब हम मथुरा घीयामडी वाले उनके पुराने मकान में रहत और उनकी माता खाना परोसती तो वे कहतीं आप दोनों भाई-भाई लगते हैं। दोनों की कद-काठी लम्बाई, स्वास्थ्य रहन-सहन दुबलापन, लजीला स्वभाव, पढ़ने-लिखने में रुचि सब एक जैसी है। मुझे उन्होंने अपने जैसी ही खादी की धोती भगवा रग का लम्बा कुरता, चप्पल खरीद दिये थे। जब हम एक जैसे वस्त्र पहिन कर प्रवचन करने जाते, तो कहतीं, 'आप दोनों में कौन, कौन है यह पहचानना मुश्किल हो जाता है। इतना साम्य है आप दोनों में।

यहाँ परिवार में कोई भी यह नहीं पहचानता कि आप कोटा निवासी हैं। आपके घर कोटा में भी श्रीराम पारिवारिक स्नेह पाते हैं। मुझे लगता है कि पुराने जन्म में आप सचमुच भाई-भाई ही रहे होंगे।' उनकी माताजी के इस निष्कपट स्नेह सौजन्य और मातृत्व से मैं निहाल हो जाता। उनके यहाँ गुजारे गर्मी के दो माह पलक मारते व्यतीत हो जाते। ऐसा आत्मीय था उनका रहन सहन, स्वभाव एवं व्यवहार, मिश्री सा मधुर मक्खन सा स्निग्ध मोम सा कोमल।

यह उनके मिशन का प्रारम्भिक इतिहास है जो मेरी स्मृति में आज भी जीवित है। बातें तो एक नहीं, सैकड़ों हैं। चालीस साल उनके मिशन में रहा था, कैसे भूलूं? जैसे गंगाजी की एक पतली सी धारा हिमालय से निकल कर क्रमशः वेगवती महाधारा बन जाती है, वैसे ही श्रीराम शर्माजी का यह प्रारंभ उनके श्रम, लगन, कर्त्तव्यनिष्ठा और सज्जनता से महासागर बन गया।

सन् 1958 की बात जग जाहिर है। सैकड़ों कार्यकर्त्ता घर परिवार का मोह छोड़ मथुरा में आ जुड़े थे। यह धार्मिक जगत् का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान था—सहस्र कुण्डीय गायत्री महायज्ञ। उससे बड़े बजट के आयोजन शायद ही कभी हुए हों। कठोर तप में संलग्न होने पर भी पता नहीं कब कैसे, इतने व्यक्तियों को ठहराने तथा कार्यक्रम का आयोजन उन्होंने कर डाला था? उनमें व्यवस्था करने, लोगों का सहयोग और भागीदारी प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता थी। राजनीति में भी पांच-दस हजार लोगों की भीड़ जुटाना कठिन होता है फिर एक लाख सुव्यवस्थित लोगों को जुटाना, उन पर नियन्त्रण करना कैसे संभव हुआ? यह उस आध्यात्मिक जादूगर की करामात थी। युगनिर्माण ही उसका मूल केन्द्र था। नैतिक मूल्यों की स्थापना अपनाने का आग्रह और सामाजिक पिछड़ेपन व कुरीतियों को मिटाने के कार्यक्रम थे। उनका उद्‌बोधन ऐसा प्रेरक था कि उसे मनुष्य जाति के विकास में मील का पत्थर कहा जा सकता है। उन्होंने अपने साहित्य, प्रवचनों व्यवहार तथा निःस्वार्थ कार्य से व्यक्ति देश और समाज का कायाकल्प ही कर डाला। देश में व्याप्त अंध भक्ति के स्थान पर तर्क बुद्धि और मनोविज्ञान की कसौटी पर खरी उतरने वाली नैतिकता दी।

पं. श्रीराम शर्मा के जीवन का प्रारंभ एक देशभक्त क्रान्तिकारी के रूप में हुआ था। सन् 1933 से 1937 तक वे भारत के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में सक्रिय कार्य करते रहे। उन दिनों स्वातंत्र्य आन्दोलन के लिए उचित वातावरण तैयार हो रहा था। वे चुपचाप उसमें भागीदार रहे। कांग्रेस ने आन्दोलन छेड़ा तो वे आगरा में थे। अप्रेल 1932 में उनके सक्रिय आन्दोलन में भाग लेने के कारण पहली बार कारावास हुआ था। दूसरी बार 1936 में जेल यात्रा की जब कांग्रेस एक प्रतिबंधित संस्था घोषित की गई थी। तीसरी जेल यात्रा संभवतः पचीस-छबीस वर्ष की आयु में रही। उनकी सृजनशक्ति उत्तेजित हो रही थी। वे आगरा मथुरा में घूम घूम कर स्वराज्य का प्रचार

करी। आगरा के क्रान्तिकारी पत्र 'सैनिक' में उनकी राष्ट्रीय विचारधारा सम्बन्धी कुछ कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। जेल से छूटने के बाद वे 'सैनिक' के सम्पादन विभाग में कार्य करते रहे। यह पत्र क्रान्तिकारियों का आश्रय स्थल था। यहां उन्होंने प्रेस का सारा काम सीखा। उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष अभी अंधकार में है। 1937 आने तक उनकी स्वाधीनता यज्ञ में भागीदारी पूरी हो गई और अब उन्होंने दूसरा मार्ग पकड़ा। यह उनका धर्म प्रचार, साधना और जन का नैतिक जागृति का कार्य बना। धर्म का सीधा अर्थ है कर्त्तव्यों को धारण करना लेकिन यह भारतीय समाज की विडम्बना रही है कि यहां तथाकथित धार्मिकों ने धर्म की आड़ में सिर्फ स्वार्थसिद्धि ही की है। श्रीराम शर्मा ने इसके ठीक विपरीत नि:स्वार्थ, निस्पृह तर्क बुद्धि पर आधारित व्यावहारिक धर्म का ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने हमें वह मानसिकता दी है जो हमारी संस्कृति में व्याप्त सुख शान्ति और भाईचारे का सन्देश देती है। उन्होंने और धर्म उपदेशकों की तरह हमें पलायनवादी न बना कर कठोर कर्त्तव्य धर्म की शिक्षा दी है। उनका दृष्टिकोण समतावादी लोककल्याणकारी रहा, काल्पनिक स्वर्ग की झांकी न दिखा कर उन्होंने इसी देश समाज जगत् में सच्चे श्रम और रचनात्मक कार्यों से गरीबी दूर करने की शिक्षा दी। भाग्यवादी न बनाकर, कर्मवादी बनाया। उन्होंने अपने लेखों, पुस्तकों तथा प्रवचनों द्वारा यह स्पष्ट किया कि ईश्वर मनुष्य का भाग्य विधाता नहीं है, मानव की तकदीर खुद उसके हाथ से ही लिखी जाती है।

उनके जीवन कार्य, मिशन और श्रम पर अनेक भक्तों ने पुस्तकें लिखी हैं, पर मुझे उनके साथ जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत करना पड़ा। उनके आन्तरिक, पारिवारिक तथा समाजसेवी रूप को मैं इतना जानता हूँ जिस पर अनेक बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। भारत में धर्म के क्षेत्र में समाज के उत्थान में, स्वस्थ मानसिकता के विकास में उनका यह योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। उन पर जितना लिखा जाय उतना ही कम है। ऐसे थे पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, मेरे अभिन्न-ब्रह्मा के मानसपुत्र, देशकाल की सीमाओं को पार करते एक विनम्र सत्यशोधक-भक्ति के पुरोधा-आचार्य।

●

गुलाबी नगर में खिला था कमल

डा त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी

मेरी साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रोत्साहित करने वाले सरल, भावुक हृदय स्वर्गीय कमलाकर जो कमल, गुरुजी से मेरा परिचय उस समय हुआ जब मैं जयपुर उच्च शिक्षा प्राप्त करने आया था। महाराजा कालेज में प्रवेश तो किसी भाँति मिल गया था, पर रहने के लिए निवास स्थान, अर्थात् एक किराये के कमरे की तलाश थी। नये शहर में, थोड़ी सी जान-पहचान, मकान तलाश करता एक नौजवान, न परिचय न अनुशंसा, कौन दे किराये पर मकान। किसी ने कहा—वहाँ साहित्य सदावर्त है, वहीं चले जाओ। मंदिरों के सदावर्त तो देखे थे, पर साहित्य का सदावर्त! समझ में नहीं आया। खैर पता पूछते-पूछते बोरड़ा के रास्ते में एक मंदिर में पहुँचा। देखा, एक सरल, सौम्य यज्ञोपवीत धारी गौर वर्ण सत्पुरुष आधी धोती पहने आधी ओढ़े छात्र-छात्राओं को ब्रज काव्य रस का पाठ करा रहे हैं।

मुझे इस कहावत में कतई विश्वास नहीं कि पोशाक से आदमी का पता चलता है और घोड़े से सूरमा का। शेर की खाल ओढ़ा हुआ आदमी दिल से भी शेर हो, जरूरी नहीं। कभी-कभी बहुत सूझ समझ कर सुन्दर सा दिखने वाला आम खट्टा निकल जाता है या पीछे से सजी-सजाई युवती सा लगने वाली नारी आकृति सामने आने पर पोपली नानी निकल जाती है। ये भी जरूरी नहीं है कि आधी धोती ओढ़े अर्द्धनग्न व्यक्ति गाधी जी हो हो। अत गुरुजी को प्रथम बार देखकर मैं बहुत प्रभावित नहीं हुआ। वे पढ़ाते रहे, मैं उन्हें देखता रहा। कक्षा समाप्त होने पर, उन्होंने मुझसे मेरा दुखड़ा पूछा। मैंने बताया। तो जान न पहचान न परिचय न संस्तुति एकदम बोले, अरे, यहीं आ जाओ। जब तक मन चाहे रहो। मैं हतप्रभ। ऐसा उदार सहज विश्वासी व्यक्तित्व। मेरी समस्या सुलझ गई थी। मैं उनके पास एक महीने रहा। देखता, वे प्रात छह बजे से पढ़ाते और रात्रि के नौ बजे तक पढ़ाते रहते। बीच में भोजनादि के लिए समय देते। वास्तव में ज्ञान का सदावर्त लुटता था। उसी बीच में बातचीत हास्य विनोद होता रहता कविता की धारा बहती रहती, कवि-गोष्ठियाँ चलतीं प्रवचन व्याख्यान होते। उनकी प्रसिद्ध रचना उद्धव शतक के कुछ कवित्त मैंने उनके श्रीमुख से तभी सुने थे। वे जब अमृत ध्वनि से छद सुनाते तो बड़ा मजा आता था।

कुछ साहित्यकार, कवि लेखक जिनमें प्रतिभा धैर्य व आत्मसम्मान की कमी होती है पत्रिकाओं में प्रशसात्मक टिप्पणियाँ लिखवाकर या भड़कीले आवरण

पृष्ठ वाली पुस्तक के लोकार्पण का तड़क-भड़क पूर्ण नाटक आयोजित कर, बाहरी रूप की चमक-दमक से अपनी साहित्यिक दुर्बलता को छिपाते हैं। पर क्या गुड़ियों की शादी कर देने से उनके बच्चे हो सकते हैं? या लकड़ी के चाकू पर लोहे की पालिश कर देने से आम तराशा जा सकता है? कमलाकर जी आजकल सुप्रचलित इस पाखंड से बहुत ऊपर थे। मैंने उन्हें आत्मप्रशंसा करते, अपनी शान बघारते, या इसको उखाड़ते और उसको पछाड़ते कभी नहीं देखा व सुना। उनके विश्वस्त मित्रों ने भी उन्हें जब उखाड़ा तो वे अड़े नहीं, झगड़े नहीं, मजे से उठकर दूसरी जगह जा बैठे, जैसे एक अवधूत एक वट वृक्ष को छोड़कर दूसरे के नीचे धूनी लगा लेता है। वे न किसी से फीस लेते थे, न द्रव्य की माग करते थे। सारा जीवन विपन्नता में बीता। उनके साथ उनके परिवारजन भी दुख पाते रहे। पर वे अवढर दानी के समान विद्या-दान करते रहे। बाद में उनके कुछ प्रभावशाली शिष्यों ने उन्हें स्वतन्त्रता सेनानी की मिलने वाली पेंशन दिला दी, उनके लिए एक छोटा सा भवन भी बनवा दिया, जिसमें उनके पुत्र, पौत्रादि रहते हैं, पर वे सदा रहे किसी मंदिर में, अपने हाथ से दाल-चावल पका कर खाते और अपनी पेंशन से प्राप्त आय को गरीबों व शिक्षार्थियों पर व्यय करते। अनेकों को परीक्षा शुल्क के लिए द्रव्य राशि देते। वे बड़े संतुष्ट ब्राह्मण थे। असंतुष्टा च द्विजा नष्टा। कहते थे, पेंशन की राशि में बड़े मजे से काम चल जाता है। वह व्यय कैसे होती थी, इसका उदाहरण एक घटना है। सड़क पर एक दुष्ट एक महिला को निर्वस्त्र करने की धमकी दे रहा था, वह रो रही थी। उस पर उसका चौदह सौ रुपये का ऋण था। वह चुका नहीं पा रही थी। विधवा थी। मजदूरी से उसका व उसके बेटे का ही पेट नहीं भरता था। सड़क पर तमाशबीनों की भीड़ थी। खड़े-खड़े सब रस ले रहे थे। शोर-शराबा सुनकर गुरुजी मन्दिर से बाहर निकले। मामला सुना। दोनों को अंदर ले आए। तत्काल ऋण चुकाया। ढाई महीने की पेंशन राशि समाप्त कर दी। वह महिला जीवन भर उनका उपकार मानती रही।

कमलाकर जी और मेरे सम्पर्क में सातत्य नहीं रहा। मैं राज्य सेवा में यत्र-तत्र रहा। अवकाश प्राप्त कर जयपुर बसने आया, तो गुरु जी से मिला, वे प्रसन्न हुए। तब तक ब्रज साहित्य अकादमी ने उनकी काव्य पुस्तक 'उद्धव शतक' का प्रकाशन करा दिया था। वे उसके कतिपय कवित्तों को उसी लहजे में सुनाने लगे। बड़ा आनंद रहा। बोले, इस काव्य की सही समीक्षा नहीं लिखी गई। तुम लिखो। मैंने अपनी अयोग्यता दिखाई तो बोले नहीं भाई, तुम ही लिखो। मैंने अध्ययन कर-कराके, जैसी भी बन सकी, समीक्षा लिखी जो उनको पसंद आई। फिर वे उसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने के लिए कई विद्यार्थियों व मित्रों से मिले पर प्रकाशित न हो सकी। अब ब्रज साहित्य अकादमी ब्रज भाषा में उनकी मृत्यु के उपरांत उसे प्रकाशित कर रही है। कबीर दास जी ने हम हिन्दुओं की इसी आदत पर टिप्पणी की है जियत बाप का मुख नहीं देखें मरे बाप का करे सराध।

कवि कमलाकर का उपनाम 'कमल' था। वे वास्तव में कमल थे। जग के, माया के, मोह के पंक से ऊपर, निश्छल, निष्प्रपंच, लोभ-लिप्साहीन। एक धोती पहनते थे एक चादर ओढ़ते थे। सर्दियों में एक लोई। श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग के अनुयायी थे। मन्दिर में मन न रमा तो जयपुर छोड़कर व्रज में प्रेम सरोवर जा बसे। पर वहाँ भी मन न लगा तो वापस जयपुर आ गए। फिर वही अध्ययन, काव्य चर्चा, अपने द्वारा स्थापित ज्ञान भारती द्वारा परीक्षाओं का सिलसिला। उपाधि वितरण के समारोह। जीवन के सात्विक आनन्द का पान। भागवत का साप्ताहिक पाठ।

एक समय आता है जब प्रत्येक लेखक व साहित्यकार अपने लक्ष्य को निर्धारित कर लेता है। पचहत्तर वर्ष की आयु में उनमें विश्वविद्यालय स्थापित करने की चाह जगी। मैंने कहा गुरु जी अब तो जमना जी किनारा छोड़ गईं। सन् सैंतालीस में सोचते तो शायद वनस्थली जैसी कोई संस्था बन जाती। बोले एक सौ पच्चीस वर्ष जिऊंगा। गांधी जी भी एक सौ पच्चीस वर्ष जीना चाहते थे पर जी न पाये। गुरुजी भी आयु का नवाँ दशक पार न कर पाये। इस हेतु कुछ धनराशि भी एकत्र हुई पर वह अति अल्प थी।

हमारी माध्यमिक कक्षाओं की हिंदी की पाठ्यपुस्तक में एक एकाकी था। 'चहचहाता चिड़ियाघर'। शायद उसके लेखक श्रीराम शर्मा थे। उसमें कवियों की अनेक पक्षियों के रूप में कल्पना की गई थी। वास्तव में साहित्य के इस चिड़ियाघर में अनेक तरह के खग पाए जाते हैं। कुछ कपोत होते हैं, जो मात्र कूजते हैं, थोड़ा सा दाना मिला चुप होकर बैठ जाते हैं। कुछ तोते होते हैं, जो नकल कर रिझाते हैं। कुछ मैना होते हैं, जो निंदा, चुगली पर जीवन बसर करते हैं। कुछ बाज होते हैं, जो दूर से आहार की पहचान कर लेते हैं और झपट्टा मारकर ले जाते हैं। नीर क्षीर विवेक करने वाले हंस तो दुर्लभ होते हैं, पर कौवे बहुत होते हैं। जो कितना ही मिले, काँव काँव ही करते हैं। मिष्टि छोड़कर विष्ठा पर ध्यान लगाते हैं। मुर्दे की आँख निकाल कर खाते हैं, चाहे वह वीर की हो या कायर की। साहित्यिक आयोजन कराते हैं। कोशिश करते हैं कि आयोजन में अधिक से अधिक जूठन निकले ताकि उनकी तंदुरुस्ती में इजाफा हो सके। कुछ बक होते हैं। धवल, शांत ध्यान मग्न। मन ही मन मछलियों को गटकने की फिराक में संलग्न। ऐसे ही किसी साहित्य सेवी मित्र ने गुरुजी की कमजोरी कहिये या उनकी पसन्द कहिए को भाँप लिया। अंग्रेजी में कहावत है कि प्रसिद्धि श्रेष्ठ पुरुषों की सबसे बड़ी कमजोरी है। तो जयपुर में होने वाले साहित्य सम्मेलन का उन्हें स्वागताध्यक्ष बना दिया। उनके निवास से सम्मेलन स्थल आठ किलोमीटर दूर था। सवारी की कोई व्यवस्था नहीं थी वे पैदल जाते और आते। पूर्व में हुए रोग ने उन्हें कृश कर ही रखा था। पुष्टिमार्गी होने के कारण कहीं जल तक न पीते। थके थकाए आते तो केले खाकर पड़े रहते। दाल चावल भी कौन पकाता घर जाते नहीं थे। सम्मेलन तो हो गया पर वे ऐसे बीमार पड़े फिर स्वस्थ न हो सके और

अंत में गोलाक धाम के यात्री बन गये। गुरु जी जीवन में कमलाकर तो न हो सके पर जीवन पर कमलवत् अवश्य जिये। कमलाकर जी रचित उद्धव शतक में एक मनहर है

एहो ब्रजनागरा! विधान विधना कौ लिख्यौ,
मेट ना सकत कोऊ, भोगिबे के भोग है।
कहैं कमलाकर कितेकहू उपाय करौ,
एकहू कौं छाड़त न, रोग हैं न सोग हैं।
हानि लाभ निंदा जस, जीवन मरन सबै
सर्व ग्रहमण्डली की, कुंडली के जोग हैं,
अपने परोसे के, भरोसे चलत नाहिं,
भाग्य भगवान के, भरोसे सब लोग हैं।



अलार्म घडी के रूप अनेक

जयनारायण गौड

बचपन में दादी माँ हर सुबह एक गीत तरन्नुम मे गुनगुनाती थीं उसके बोल थे--- उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है। जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है।' उन दिनों हमारे घर में अलार्म घड़ी तो था नहीं, पर उसका काम दादी माँ का वह प्रिय गीत अवश्य कर देता था जिसे गा गाकर वे परिवार के हर सदस्य को सूर्योदय से पहले ही उठा देती थीं। इस मामले में वे वरिष्ठता के नियम का भी ध्यान रखती थीं। वरिष्ठतम होने के नाते खुद तो बिना किसी के जगाये, सबसे पहले उठ जाती थीं तथा फिर वह पहले तो बड़ों का तथा बाद में छोटों को जगाती थीं। उनका हृदयग्राही गान सुनकर और भव्य सुन्दर चेहरा देखकर बिस्तर छोड़ने का सुख तब समाप्त हो गया जब पिताजी ने जोधपुर आकर दरबार हाई स्कूल में मुझे प्रवेश दिलाया तथा मैं छात्रावास में रहने लगा।

मेरे छात्रावास का वातावरण और अनुशासन गुरुकुलों को मात करता था तथा इसके ऋषि तुल्य वार्डन (श्री देवी चन्द जी शाह) की देखरेख में मेरी दिनचर्या अलार्म या कलाई घडी न होने के बावजूद घडी की सुइयों की तरह पूर्व निर्धारित थी। सुबह ठीक पाँच बजे, हॉस्टल के चौक में लटके घंटे को चपरासी तब तक बजाता ही रहता जब तक हम सब छात्र उठ नहीं जाते। तीन वर्ष बाद कॉलेज में आने पर पिताजी ने मुझे एक अलार्म घड़ी देते हुए कहा--- बेटे, सूर्योदय से अगर पहले उठोगे तो शरीर और मन दोनों चंगे रहेंगे।' उससे बहुत पहले मैं अर्ली टू बैड एण्ड अर्ली टू राइज, मेक्स ए मैन हैल्दी वैल्दी एण्ड वाइज' वाली कविता भी पढ़ चुका था। पिताजी के उस आदर्श का मैंने जीवन भर पालन किया है तथा उपरोक्त कविता के अनुसार धनवान भले ही नहीं बन सका पर शरीर, मन और बुद्धि से चंगा अवश्य हूँ। मेरी दो जीवन-संगिनियों में (चौंकिये मत) एक मेरी वह बहुरूपिणी अलार्म घड़ी है जिसकी पुकार पर ही हर सुबह मेरी नींद खुलती है और आज भी उसी के सहारे मेरा प्रात कालीन भ्रमण चल रहा है। इसके रूप तो बहुत बदले पर मैंने इसका साथ नहीं छोड़ा।

सुबह के मेरे कुछ घुमक्कड़ मित्रों की नींद तो बिना किसी अलार्म के ही निर्धारित समय पर अपने आप खुल जाता है, पर हमारी नींद का आलम यह है कि रात का जब इसके आने का समय होता है तब तो आता नहीं और सुबह खुलने के समय खुलता नहीं। नींद बनाने वाले भगवान का लाख-लाख शुक्र है कि इस सर्वहारा से

गरीब या परेशान इंसान भी कुछ समय के लिए तो अपनी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। नींद समाजवादी भी है, क्योंकि राजा और रंक के निद्रा-सुख में कोई अन्तर नहीं। निद्रा का झुकाव अवश्य उन मेहनतकश गरीबों की ओर हो है जिन्हें जब चाहो तरटि की नींद का वह सुख तो सुलभ है, जो धन या पद की कुंठाओं से ग्रस्त अनेक लोगों को नसीब हो नहीं।

अलार्म घड़ी और मेरे बीच कुछ ऐसी भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक विसंगतियाँ हैं कि उससे मेरी पटरी बैठी नहीं। पर ताज्जुब है कि उसका साथ भी मैंने नहीं छोड़ा। इसकी असली जरूरत तो तब है जब आपको सुबह—बहुत जल्दी कोई बस, ट्रेन या हवाई जहाज पकड़ना है। किसी सामान्य दिन यदि आपने अलार्म की अवज्ञा भी कर दी तो भी कोई आसमान नहीं टूटगा। मेरे साथ जब कभी ऐसा हुआ तो उस दिन का भ्रमण ही तो छूटा है, पर यदि हवाई जहाज या रेल छूट जाय तो क्या हो! पर ऐसी रातों में मुझे अलार्म की जरूरत इसलिए नहीं होती क्योंकि तब तो मैं लगभग रात भर जागता ही रहता हूँ। यदि झपकी लगी भी तो भी अनेक बार हड़बड़ाये हुए उठकर घड़ी देखता रहता हूँ और अलार्म बजने से पहले ही बिस्तर छोड़ देता हूँ। पर उन रातों में भी अलार्म भरता तो अवश्य हूँ। अन्य सामान्य दिनों में भी पुरानी अलार्म घड़ियाँ ही मुझे इन आधुनिक और नयनाभिराम घड़ियों से बेहतर लगती हैं। पुरानी घड़ियाँ अपना कार्य सम्पादन ईमानदारी से तो करती हैं। कॉलेज के दिनों की मेरी अलार्म घड़ी, कर्कश स्वर से अपनी वफादारी का सबूत बखूबी देती थी। अपनी गत सिंगापुर यात्रा से लौटते समय वहाँ से मैं जो अलार्म घड़ी लाया उसमें ट्रिंग-ट्रिंग की जगह, छः प्रकार के ऐसे मधुर संगीत सुनाई देते हैं कि वह जगाने के बदले, माँ की लोरी की तरह मुझे पुनः सुला देने का काम करती है। अंततः मैंने कर्णभेदी गर्जन करने वाली पुरानी घड़ी को ही वापस निकाला। पर बेचारी वह भी बाह्य परिस्थितियों को कैसे बदले।

गर्मी के मौसम में तो तापमान की दृष्टि से सुबह का समय ही सोने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है और सर्दी के दिनों में, सुबह जब तापमान न्यूनतम होता है तो रजाई से चिपटे रहने की इच्छा अधिकतम होती है। इन दोनों मौसमों में सुबह सोते रहने की हार्दिक लालसा के कारण यह करिश्मा भी होता है कि घड़ी की आवाज, उस समय चल रहे सपने में ऐसी आत्मसात् हो जाती है, मानो वह आवाज उस सपने के घटनाक्रम का ही अविभाज्य अंग हो। गीता में वर्णित लिप्ति और निर्लिप्ति का उन क्षणों में ऐसा समन्वय होता है कि रजाई में घुसे रहने की लिप्ति पर अलार्म की आवाज के प्रति मेरी निर्लिप्ति छा जाती है। कानों को तो लगता है कि अलार्म बज रही है पर मन कहता है कि नहीं, यह तो किसी सपने के कथानक में ही कोई घंटा बज रहा है। इसी उधेड़बुन में पता नहीं कब मेरा हाथ सरक कर, अलार्म को बंद तो कर देता था पर हमने भी क्योंकि सुबह जल्दी शय्या त्याग की कसम खा रखी थी इसलिए अलार्म घड़ी को इतनी दूर रखना शुरू कर दिया कि बिना बिस्तर छोड़े, उसे बन्द ही न किया जा सके।

उन्हीं दिनों में हमारी शादी हो गया। पर इस अलार्म क्लॉक से मेरा प्यार घृणा का अंतरंग रिश्ता मेरी पत्नी को फूटी आँखों नहीं सुहाया। इस बेजान धातु में भी उसे अपनी सौत के दर्शन होने लगे। एक दिन नाराज होकर बोलीं— देखो जी, अगर तुम्हें यह प्यारी है तो मुझे अपनी नींद प्यारी है। मेरी नींद खराब करने का इसे क्या अधिकार है। इसके बिना तुम यदि नहीं रह सकते तो फिर इस नासपीटी को लेकर दूसरे कमरे में सोया करो।' पर यह हमें मंजूर नहीं था। इसलिए पत्नी को मैंने सुबह घूमने के फायदे गिनाने शुरू किये और अलार्म बजने पर त्वरित गति से उठने की स्वप की यन्त्रणा को उससे छिपा गया। यह भी छिपा गया कि वैसे तो दिन चढ़े तक सोना चाहता हूँ, पर पिता को दिये वचन को निभाना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। खुद की एक फूट तो पड़ोसी की दानों की तर्ज वाली मेरी कूटनीति को भोली-भाली श्रीमती जी नहीं समझ सकीं और हमारी इन बातों से ऐसी प्रभावित हुई कि दूसरे दिन से वे भी हमारे साथ ही उठ कर घूमने जाने लगीं और कुछ समय बाद चमत्कार यह हुआ कि उन्होंने अलार्म घड़ी से तो मुझे छुटकारा दिला दिया, पर खुद ने निर्धारित समय पर रोज मुझे जगा कर, मेरी दादी माँ की याद तरोताजा कर दी। मेरे ब्रह्मास्त्र ने मुझे ही परास्त कर दिया। क्योंकि घड़ी की पुकार तो मैं बटन दबाकर बंद करके पुन सो सकता था, पर पत्नी की चीख पुकार को दरगुजर करना आसान नहीं था। वैसे भी पत्नी अलार्म घड़ी से अनेक मायने में बेहतर थी। स्वयं बजने के अलावा तो अलार्म कुछ कर ही नहीं सकती और जब चाहो उसका मुँह भी बंद कर दो। पर पत्नी के तो मुँह और हाथ दोनों साथ चलते थे। इधर उन्होंने उठो जी कहा उधर हमसे लिपटी रजाई भी खींच कर फेंक दी जाती। फिर उठने के अलावा चारा ही क्या था। यन्त्रणा के ये कुछ क्षण बीतते ही फिर सुख ही सुख था क्योंकि तभी गरमागरम चाय के साथ पत्नी मुस्कराहट भी परोसती और फिर हम दोनों अपनी जीवन-यात्रा की तरह ही कदम से कदम मिलाकर समीपस्थ विश्वविद्यालय के विशाल प्रांगण को तेज रफ्तार से नापने हेतु निकल पड़ते थे।

यह सिलसिला कुछ वर्ष तो चला पर जब हमारे प्रथम पुत्र ने जन्म लिया तो पत्नी की निद्रा अव्यवस्थित होनी ही थी। अब उसने मुझे जगाना बन्द कर दिया क्योंकि अब तो बच्चे के साथ ही उसका सोना-जागना था। पर इन्हीं दिनों में हमारा तबादला धौलपुर हो गया जहाँ हमारे मकान के पास से ही ट्रेन सुबह चार बजे इतनी लम्बी सीटी देते हुए गुजरती थी कि हम ही क्या सारा मोहल्ला जग जाता होगा। जब तक वहाँ रहे यह ट्रेन ही हमारी अलार्म घड़ी थी। उसके बाद जहाँ-जहाँ तबादले हुए भगवान ने ऐसा लाज रखा कि हमें अपनी वफादार अलार्म घड़ी को संदूक से निकालने की जरूरत ही नहीं पड़ी। एक छोटे से कस्बे में जब हमारी पोस्टिंग हुआ तो वहाँ मिला मकान एक ऐसे मन्दिर के पास था जहाँ सुबह चार बजे से ही भजन-कीर्तन का लाउडस्पीकर से ब्रॉडकास्ट किया जाता था। फिल्मी धुनों पर बने इन भजनों में भावना और भक्ति की गहराई तो नहीं था पर मुझे जगाने में तो ये सफल थे ही। एक

जगह ता पड़ोस की पौल्ट्री का वरिष्ठतम मुर्गा निर्धारित समय पर 'कुकुडूँ-कूँ' की ऐसी बाँग देता था कि हमारी नींद खुल ही जाती थी। दूसरी एक जगह, समीपस्थ विशाल फैक्ट्री का भौंपू रोज निर्धारित समय पर चीत्कार कर उठता था। अभी कुछ समय पहले विपश्यना-साधना केन्द्र के दस दिन के प्रवास न मेरे हाई स्कूल के दिनों की याद इसलिए तराताजा कर दी, क्योंकि यहाँ भी बड़े तडके ही केन्द्र का घटा साधको का जगाने क लिए पचास वर्ष पूर्व के छात्रावासी घंटे की तरह घनघनाता रहता था। इसी तरह कई वर्ष पहले अपने मद्रास प्रवास के दौरान वहाँ उषाकाल में अनगिनत मदिरों की बजती वे घटिया मुझे अब भी याद आती हैं जो जयपुर क भाग्य में नहीं। आज की उपभोक्ता सस्कृति के परिवेश में भी मद्रास न आध्यात्मिकता से मुख नहीं मोड़ा है। वहाँ अब भी हजारों लोग सुबह जल्दी उठकर, गली-गली में स्थित मदिरों की घटिया बजा कर सारे शहर के लिए अलार्म घडी का काम करते हैं। डूगरपुर में बिताये दो वर्षों में मुझे एक अद्भुत अलार्म मिला। जिलाधीश-निवास के विशाल भूखण्ड में आम, अमरूद, सब, नींबू, अगूर और जामुन से लेकर गुलमोहर, नागचम्पा, अमलतास, सिरस, युक्लिप्टस, नीम, शाशम, केशिया श्यामिया और बिगनबेलिया आदि के अनगिनत वृक्षों पर, उषा की वेला में जब चिड़ियाएं चहचहातीं तो लगता कि इस लोक में सोने के बाद अब मैं देवलोक में जाग रहा हूँ। इस अलार्म घड़ी का सुख तो अनुभूत करने पर ही जाना जा सकता है। कानों के साथ नेत्रों को भी इस सुख से सराबोर करने हेतु अनेक बार तो पहला चहचहाट पर ही दबे पाव बाहर आकर चिड़ियाओं के झुडों की मनोहारी कुदक-फुदक को भी एकटक देखा है। पक्षियों का वह मधुर कलरव मेरी हर सुबह को स्वर्ग बना देता था। जयपुर के मेरे वर्तमान मकान में यह सुख कहाँ? एक नई जगह जहाँ यह सब कुछ नहीं था, भगवान ने एक दूध वाला भेजा, जो पौ फटने से पहले ही दूध वितरण करता था। पड़ोसियों ने बताया कि पहले तो वह देर से आया करता था, पर दूध में पानी के अनुपात की घटा-बढ़ी पर ग्राहकों के तेवरों से बचने के लिए अब उसने अंधेरे में ही अपना शुद्ध दूध देना शुरू कर दिया था। उसकी साइकिल की घटी बजने पर मैं उठ कर उससे दूध लेता तथा दरवाजा बद करते ही मुझे भगवान राम का वह प्रसग याद आता जब वन यात्रा के दौरान हर सुबह वे रात्रि को साया देने वाले वृक्ष का छोडते समय उसे अश्रुपूरित नेत्रों से मुड़-मुड़ कर देखते जाते थे। इसान के चोले में मर्यादा-पुरुषोत्तम तो बिछुड़न की मानवीय दुर्बलता का जानबूझ कर इजहार करते थे, पर मैं तो शत-प्रतिशत इसान ही हूँ। अत हाल हा में छोड़े, उस नरम, गरम बिस्तर को मैं भी मुड़-मुड़ कर तो देखता पर साथ ही मन को समझाता भी कि राम का रूदन तो शायद इसलिए उचित था कि उस वृक्ष से उनका साथ हमेशा हमेशा के लिए छूट रहा था पर मुझे तो यही बिस्तर आज रात को ही वापस मिल जायगा तथा फिर हर रात को उपलब्ध होता रहेगा। अत भावना को विवेक से नियन्त्रित करके इस सर्वथा अस्थायी वियोग पर बिना आँसू बहाये ही मैं फिर प्रात भ्रमण पर निकल पड़ता।

रिटायरमैंट के बाद अब भागादौडी की जिन्दगी से तो मुक्ति मिल गयी, पर सुबह घूमने का कार्यक्रम बदस्तूर जारी है। नींद खुलने पर अब बिस्तर छोडने में भी कोई भौतिक या मनोवैज्ञानिक परेशानी नहीं होती। निद्रा क्योंकि अब भी गहरी आती है इसलिए अलार्म की जरूरत तो आज भी है। पुरानी और नई अलार्म घड़ी के अलावा दादी माँ, हॉस्टल का घटा, पत्नी, रेल, मदिर, मुर्गा, फैक्ट्री, दूधिया तथा चिड़ियाओं आदि ने मेरी दिनचर्या के रगमचों पर सूत्रधार का काम किया है। पर जीवन के इस ढलते प्रहर में अब प्रतिदिन सुबह पुन अपनी पुरानी अलार्म घड़ी का पल्ला पकडा है और उसकी आवाज पर बिस्तर भी अब बेझिझक छोड़ देता हूँ। ●

सरिस्का अभयारण्य एक सस्मरण

डा जयसिह नीरज

यों तो सरिस्का अभयारण्य की सीमा मेरे गाँव के पहाड़ से लगी हुई है। बचपन से पचासों बार सरिस्का के जगल में चक्कर लगाता रहा हू। हर बार पल-पल प्रकृति के परिवेश के बदलाव के कारण एक नया अनुभव इस अभयारण्य में मुझे मिलता रहा है। बचपन की यादें अलग और अबकी अलग। आदमी जैसी मन स्थिति में होता है उसी के अनुसार प्रकृति का परिदृश्य मन के पटल पर अकित होता रहता है, अत सरिस्का के जगल के न जाने कितने दृश्य मेरे कम्प्यूटर में समाए हुए हैं सन् 36 से लेकर आज तक के।

सस्कृति कर्मी विजय वर्मा का आग्रह है कि सरिस्का और नीलकठ चला जाय। शरीर मे अब इतना दमखम नहीं है फिर भी ललक और जिजीविषा उस ओर खींच ले जाती है। यह अच्छी बात है कि वन विभाग के वरिष्ठ और अनुभवी अधिकारी श्री यादव भी हमारे साथ हैं।

भोर की प्रथम लाली के साथ ही हम जीप में हिचकोले खाते निकल पड़ते हैं। पुरानी छतरियों के पास की कच्ची सड़क से गुजरते हैं तो पानी के पास मोरों का झुड नाचता हुआ और हिरणों का झुड कुदकता हुआ दिखाई देता है। हमें देखते ही मोर शरमाते हुए पख समेटने लगते हैं। मृगिया और इनके छोने हमारी ओर चकित होकर देखने लगते हैं। हम उनकी भगिमा को कैमरे में कैद कर लेते हैं।

कहावत है 'जगल में मोर नाचा किसने देखा' पर बस्ती के आसपास रहने वाले इस राष्ट्रीय पक्षी पर लगातार कहर बरपा रहे हैं। लोग इसको मार कर अपना पेट भरने लगे हैं। गाँव के आसपास चारागाह और झाड़ झकाड़ सफाचट हो गए हैं अत मोरनी अब अपने अडे कहा दे और उन्हें कैसे सेवे। इसलिए अब मोर को जगल में ही नाचते हुए देखना होगा।

कहावत है इन्द्र के वरदान ने मयूर को अनोखी सुन्दरता प्रदान की है। यह वरदान मयूर को तब मिला जब इन्द्र राक्षसराज रावण से भयभीत होकर मयूर का रूप धारण कर यज्ञ में भाग लेने गया। मयूर के स्वरूप में इन्द्र की रक्षा हुई इसलिए इन्द्र ने प्रसन्न होकर सर्पों से उसे अभयदान ही नहीं दिया, अपितु अपने सहस्र नेत्रों की सुन्दरता भी उसके पखों में सजा दी। निश्चय ही मयूर तो लाखों वर्ष पुराना पक्षी रहा होगा, पर हमारे साहित्य की खूबी मिथ घडने की रही है।

अरे साहब मोरों को क्या देखना ? जगल में आए हैं तो जगली जीव देखिए। और आगे एक पठार पर के जगली सुअरों के झुण्ड की ओर यादव साहब इशारा करते हैं।

दरातीदार सुअर और मादा तथा कुछ बच्चे अपनी थूथनी से घास की जड़ें निकाल कर खा रहे हैं। हमें देखकर बच्चे थोड़ा ठिठकते हैं, पर नर की अकड़ तथा मेरा निगाह से व आश्वस्त होकर फिर अपने काम मे लग जाते हैं। सुअर को आज अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता किन्तु भारतीय सस्कृति में वराह अवतार के कारण आठवीं से बारहवीं शती तक उसका बहुत सम्मान रहा है। ऐसा कोई मंदिर नहीं जिसम वराह अवतार की मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ है। भारत के प्रसिद्ध मंदिरों की बात छोड़िए सरिस्का परिसर में ही तालवृक्ष, गढराजौर के मंदिरों में वराह की मूर्तियां कलात्मक ढग से कारी गयी हैं। तालवृक्ष के आसपास तो कभी वराह का मंदिर ही रहा है। आज से तीस वर्ष पूर्व एक खेत में जो उत्कृष्ट कला की प्रतीक वराह की मूर्ति मिली है, वह इस बात की साक्षी है। स्व तहसीलदार श्यामसिंह ने उसे तालवृक्ष म स्थापित कर दिया था, पर अमूल्य मूर्ति होने क कारण बबई के तस्कर उसे चुरा ले गए। वराह ने पृथ्वी को बचाया, अत चार उसे कैसे ले जा सकते थे। वे पकडे गए और एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति विदेश जाने से बच गयी। दुर्भाग्य यह है कि न्यायालय के झझट के कारण वह गोदाम म बद पडी है। वराह अवतार ने पृथ्वी को उबारा, देखते हैं वराह अवतार के प्रतीक को कौन उबारता है?

आगे चलते हैं तो पाण्डुपोल की पहाडिया तथा काली घाटी की पहाड़िया वृक्षावलियों से ढकी दिखाई दे रही हैं। सड़क क किनार नील गाय, साभर, चितकबरे, हिरणों के झुण्ड दिखाई देते हैं। गर्मी का मौसम है इसलिए पानी के किनारे ही उनका जमघट है। यहां जानवरों का सहअस्तित्व देखते ही बनता है। लगूर पेड़ों स फल गिरा रहे हैं और नाचे खड़े जानवर उन्हें स्वाद लेकर खा रहे हैं। जगल में मासाहारी जीवों का भोजन जगल के ही जीव होते हैं। वनराज, बघेरा आदि जानवर चीतल, साभर नीलगाय आदि जानवरों को अपना भक्ष्य बनाते रहते हैं और ये जानवर शाकाहारी होने के कारण फल-फूल, पत्त और घास-पात खाकर अपना पेट भरत रहते हैं। कुछ जानवर तो परोपजीवी हैं। एक स्थान पर अधखाया साभर पड़ा है। जिसे निश्चय ही शेर ने मारा होगा, पर अब बचे हुए भोजन को सियार, जरख और काचले खा रहे हैं। काचले का झुण्ड ऐसे बैठा है जैसे किसी के मोहल्ले में ग्रामीणों का ठोल बैठा हो।

हम काली घाटी मार्ग पर आ गए हैं। एक सड़क पाण्डुपोल की ओर मुड़ गयी है। काली घाटी परिसर में पेड़-पौधों का इतना जमघट है कि व [illegible]
अधेरा सा रहता है। शायद इसी कार [illegible] सपर्प से
से घाटी भरा पड़ा है। धौंक कठोर पहाड़ [illegible]
उसकी लकड़ी भी बहुत मजबूत होती है [illegible] है
सा जीवन यापन करता है। मार्च [illegible] ल में
पलाश का पेड़ लाल फूलों स दमकता [illegible]

[illegible]
यह सुना था कि हम [illegible]

 [illegible]

नए वस्त्र धारण कर लिए थे। घाटी के पहाड़ी ढलानों पर सैकड़ो की सख्या में सालर की वृक्षावलि खडी है। विजय वर्मा कहते हैं—'इस कठोर पहाडी परिवेश म कितने ऊचे-ऊचे वृक्ष खडे हैं तथा नए पत्तों में लहक रहे हैं। इनका तना कितना चिकना है—छाल-भोजपत्र की तरह लगती है। वाकई यह पेड़ अद्भुत है। इसकी टहनी रोपने से हा यह लग जाता है, इसे शुभ मानकर ग्रामीण लोग अपने घरों में भी रोप लते है।

घाटी का ढलान शुरु हो जाता है। आगे चल कर दाहिनी ओर कच्चा रास्ता नीलकठ मन्दिर की ओर जाता है। पक्क दरवाजे से गढ़राजौर तथा काकवाड़ी के किले की सामा प्रारम्भ हो जाती है। बड़े-बड़े पत्थरों पर से जीप हिचकौल खाती चली जा रही है। यहा का प्राकृतिक परिवश अलग ही है। दूर-दूर तक आकाश का छूते बास के सघन बीड दिखाई दे रहे हैं। बासो का इतना घना जगल पहला बार देखने को मिला। हवा सनसना रही है और ऐसा लग रहा है जैसे हर एक बास वशी की धुन टेर रहा है। ऐसे घने जगल में ही वनराज शेर मस्ती में औंघता रहता है। आस-पास की ढाणियों के गूजरों ने नाहरसिह अर्थात् नृसिह के चबूतरे बनाकर नृसिह की मूर्तिया स्थापित कर रखा हैं और कभा कभी जागरण कर रात-भर गीत गाते रहते हैं—

बास का बीड़ा में बैठ्यो

नाहरसिह बाबो।

वह बास कितना सौभाग्यशाली रहा होगा जिसकी मुरली को मुरली मनोहर बजाते रहे होंगे और राधा तथा अन्य गोपिया मुरली की धुन को सुनकर बेसुध होती रहा होंगी। मुरला को आधार बनाकर इतना साहित्य लिखा गया है कि बास का व्यक्तित्व हा निखर आया, पर यह सौभाग्य किसी किसी बास को ही मिल पाया है। यहा तो बास के बीड़ गुथे पडे हैं और हवा के झोंकों में सामूहिक गान गाते रहते हैं कोई सुने या न सुने।

जगह-जगह अमलतास गहरे पीले फूलों से लदा पड़ा है जिसे ढाणी का आदमी कड़ियाला बालता है। मुम जैसे ढाणी के आदमी जैसे शहर में जा बसे इसा प्रकार अमलतास भी अब शहरी पेड हो गया है। यह तो आरक्षित जगल है पर गाव-ढाणियों के पास जहा जगल थे, पहाड़ थे वे अब सल्पाट हो गए हैं।

नाले के साथ-साथ ढलान पर उतरते ही थोडी दूर मैदान की डूगरी पर काकवाड़ी का किला दिखाई दे रहा है। चारों ओर पहाड़ों से घिरा दो किलोमीटर चौड़ा और 8-10 कि मा लबा यह मैदान अपने में अपूर्व इतिहास सजोए हुए है जहा कुछ छोटी-छोटा ढाणिया, राजौर गढ़ आदि गाव बसे हुए हैं। यहीं पर गुर्जर प्रतिहारों का वैभव बिखरा पडा है।

गुर्जर प्रतिहारों का इतिहास और कलात्मक इतिहास सपूर्ण उत्तरी भारत में फैला पडा है पर राजस्थान की बात हा अलग है। 8वीं शती प्रारम्भ स लेकर 10वीं

शता अन्त तक गुर्जर प्रतिहारों का वर्चस्व यहा रहा, जिसके फलस्वरूप जालौर, ओसिया माडौर व्याघ्रराज गढ़राजौर, आवानेरा आदि स्थानों में उनका सास्कृतिक वैभव बिखरा पड़ा है। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कन्नौज उनका गढ रहा और उनके सामत पूर्वी राजस्थान में ठाठ से राज्य करने लगे। इस दृष्टि से गढ़राजौर या पारानगर उनका महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्र रहा।

चारों ओर पहाड़ों से घिरा यह स्थल सुरक्षा की दृष्टि से बेजोड़ है, अत यहा पर शैव, वैष्णव और जैन सस्कृति का विस्तार हुआ। लोक अनुश्रुति है कि गढ़राजौर बहुत वैभवशाली राजधानी थी। यहा आठ किलोमीटर के अन्दर सैकड़ों मन्दिरों के खण्डहर उपलब्ध होते हैं। कुछ मदिरों की पहचान तो अब भी होती है।

यहा पर एक मात्र सुरक्षित मन्दिर नीलकठेश्वर या नालकठ महादेव मन्दिर है। जिसमें आज तक अखण्ड ज्योति जलती आ रही है। यहा अकेला मन्दिर है जहा पूजा अर्चना की व्यवस्था है।

यहा के लोग इसे त्रिभुवन भी बोलते हैं। पश्चिम की ओर अभिमुख यह मदिर वाकई देवमयी का प्रतीक है। विशाल चबूतरे के बाद मण्डप प्रारम्भ होता है जिसके स्तम्भ कला के अद्भुत उदाहरण हैं, जो सुन्दर मूर्तियों और बेल-बूटों से मडित हैं। सामने नालकठ महादेव गर्भगृह में विराजमान हैं। बाईं ओर ब्रह्मा का और दाहिनी ओर विष्णु का गर्भगृह है जहा अब स्वरूप विराजमान नहीं है। इन मदिरों के ऊपर के गुम्मद भी नदारद हैं। केवल नालकठेश्वर का गुम्मद ही शेष है। अगल बगल नयी कोटड़िया बना दी गयी हैं जिससे प्राचीन मदिर की विशालता और भव्यता की कल्पना ही की जा सकती है।

नागर शैली के बने इस मदिर की मूर्तियों का लावण्य, मासलता और कोराई की सूक्ष्मता देखते ही बनती है। निश्चय ही गुर्जर प्रतिहारों ने ओसिया के बाद शायद यहीं पर इतने विशाल पैमाने पर मदिरों का निर्माण करवाया। नौगजा जैन मदिर, लाछो की देवरी शिव मन्दिर आदि की भव्यता और विशालता देखते ही बनता है।

यहा चारों ओर खण्डहरों का साम्राज्य बिखरा पडा है, जिनमें से कुछेक मूर्तियों, कोरित पत्थरों एव कलात्मक शिलाखण्डों को मदिर के परिसर में तथा सामने ही एक बाडे में एकत्रित कर रखा है। इस कलात्मक सामग्री की सुरक्षा हेतु अब एक बड़ा हॉल' बन रहा है। इसके बावजूद भी जिधर आप जायें वहां कोरित शिलाखण्ड और खडित मूर्तिया मिल जायगी। मदिर के पास ही लगभग एक किलोमीटर पर गढ गाव है जिसके मकानों की दीवारों में न जाने कितने कोरित पत्थर और कलात्मक ऐतिहासिक सामग्री चिनी पड़ी है।

जीवन का क्रम जन्म पोषण और मरण है अत जीवन दर्शन को प्रारूप देने वाले तीनों देव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश कभी यहा पर त्रिभुवन में विराजमान थे पर अब तो यहा भोले भडारी विषपायी नीलकठ बाबा का ही साम्राज्य है। इस उजाड़

में फिर भी सघर्षशील मीणा, गुर्जर जातिया पशुपालन कर अपना गुजारा कर रही हैं। पहाडों से घिरा यह सास्कृतिक अचल आधुनिकीकरण से कोसों दूर है।

पास ही पहाड़ी ढलान के नीचे पलाशवन मीलों तक फैला है, जब मार्च महीने में पलाशवन दहकता होगा केसरिया-लाल फूलों में लदफद जाता होगा, तो कितना खूबसूरत लगता होगा। पर अब तो पशुओं को खिलाने के लिए पलाशवन को बौड़ रखा है।

चादनी रात में जीप में बैठकर उधर घूमने निकलते हैं तो कटा हुआ पलाश का कोई पेड गणेश का रूप लगता है और कोई कोरित अप्सरा का। मदिर की मूर्तिया मन के पटल पर इतनी छाई हुई हैं कि हल्की चादनी में हरेक पेड़ मूर्ति की मुद्रा में नजर आता है। आधुनिक अमूर्त चित्रों में जिस प्रकार अनेक मूर्त सभावनाए बनती हैं वैसी ही मन स्थिति हमारी हो रही है। विजय वर्मा कहते हैं वाकई मदिर की मूर्तियों का हमारे हृदयपटल पर प्रभाव इतना स्थायी हो गया है कि अब हरेक पेड हमें मूर्तिवत् दिखाई देने लगा है।

सनसनाती हवा और झिंगुरों के सगीत के अलावा सारा पारानगरीय परिवेश सोया पड़ा है। कभी वहा बड़ा शहर रहा होगा और रात्रि गोष्ठियों के कारण चहल-पहल रही होगी, पर समय बलवान है। नया निर्माण होता रहता है और पुराना समाप्त होता रहता है। परिवर्तन ही जीवन का क्रम है।

हम थककर रात्रि को नीलकठ बाबा की शरण में सो जाते हैं और प्रात काल भोले बाबा को प्रणाम कर वापिस लौट पड़ते हैं, पर अब रास्ता दूसरा है। ऊचे पहाड पर किले की सी दीवार बनी हुई है जिसे जयपुर बसाने वाले राजा सवाई जयसिंह ने बनवायी थी। पहाड़ के एक तरफ ऊची सी घाटी है जिस पर असावरी दरवाजा बना हुआ है उसी से गुजरते हुए हिचकोले खाते हुए हम नीचे उतरते हैं। साप की तरह बल खाता टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है पर अब गढ़राजौर तक वहा के विधायक की मेहरबानी से पक्की सडक बन रही है। हम छोटी सा ढाणी दबकण में आकर सास लेते हैं। ढाणी के आदमी हमारी मनुहार करते हैं और कचौला भर-भर कर छाछ-राबडी पिलाते हैं।

यह सारा क्षेत्र सरिस्का टाइगर प्रोजेक्ट में ही आता है। लौट-फिर कर हम काली घाटी के दक्षिणी सिरे पर आ जाते हैं। फिर गहन हरियाली, लगूरों की उछल-कूद साभर, चीतल और रोझ के झुण्डों की खुशकेल। दस-बारह किलोमीटर पशु पक्षियों के बीच से गुजरते हुए लौटने पर देखते हैं तो दूर से ही सरिस्का पैलेस जगल के जहाज की तरह दिखने लगता है। अलवर के महाराजा जयसिंह ने इस अपनी जगल में मगल करने की आरामगाह और शिकारगाह के रूप में विकसित किया था जो आज पचसितारा होटल के रूप में प्रसिद्ध हो रहा है।

हम लौटकर फिर उसी शहरी कोलाहलपूर्ण परिवेश में आ डूबते हैं। ●

हाडौती प्रेमी—प्रेम जी प्रेम

डा कन्हैयालाल शर्मा

डूगर महाविद्यालय, बीकानेर के हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते समय ग्रीष्मावकाश में कोटा थोड़े दिनों के लिए आ जाता था। मई, 1978 में जब मैं कोटा आया हुआ था, तब एक युवक सहज भाव से मेरे कमरे में प्रवेश कर गया। मेरे नेत्रों के प्रश्न-भाव को जिह्वा पर लाता इससे पूर्व ही युवक ने बताया कि, मेरा नाम प्रेम जी प्रेम है। मैंने उन्हें चोटी से एडी तक देखा और उनकी सहज मुद्रा को देखकर इतना ही कह सका कि आपका नाम सुना है, पर मिलन-सयोग आज मिला है। बातचीत आगे बढ़ी और अनेक राजस्थानी भाषा-विषयक प्रश्न उन्होंने उठाये, जिनका यथामति उत्तर देकर मैं उन्हें सतुष्ट कर सका। तब मैंने देखा कि उनमें हाड़ौती प्रेम है और मेरे हा मिशन के सहगामी हैं। बातचीत हाडौती में ही चलने लगी। उनकी हाडौती में सहजता थी और थी धरती की गध, जो मैं अपनी हाडौती में नहीं पा रहा था।

वे तीन पुस्तकें साथ लाये थे—सेला छाव खज्यूर की सावळा साच और रामचन्द्रा की रामकथा। पहली पुस्तक लघु उपन्यास थी, दूसरी कविता-सग्रह थी और तीसरी मे कहानियों का सग्रह था। उन्होने ही बताया कि पहली पुस्तक 'चामल' के विशेषाक रूप म प्रकाशित हुई है जो उसकी दो स्तभीय मुद्रण शैली से भी स्पष्ट हो रहा था। सावळो साच पर भी विहगम दृष्टि डाली और पाया कि इसकी गजलों में ताजगी है और अनुभूति की सच्चाई है। रामचन्द्रा की रामकथा कहानी सग्रह के शीर्षक वैशिष्ट्य को सहसा नहीं समझ पाया। मेरी सरसरी दृष्टि जब धन्यवाद में परिणत हो गई तब उन्होने बताया कि इन पर समीक्षाए लिखवाकर जागती जोत' में प्रकाशित करना है। तब मैं जागती जोत' का सपादन कर रहा था। मैंने आश्वस्त किया कि आगामी एक-दो अकों में समीक्षाए प्रकाशित हो जावेंगी।

सेली छाव खज्यूर की समीक्षा मेरी पुत्री ने मेरे निर्देशन में लिखी सावळो साच के समीक्षा-भार को कोटा निवासी श्री रामकृष्ण शर्मा ने सहर्ष स्वीकार किया और डॉ सत्यनारायण स्वामी ने रामचन्द्रा की रामकथा की समीक्षा मनोयोग से लिखी। लगातार तीन अकों में प्रकाशित समीक्षाओं ने वहा के साहित्यकारों में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि मैं हाडौती के लेखकों को वरीयता दे रहा हूँ। मेरा उत्तर रहा कि अन्य समीक्ष्य पुस्तकें इन दिनों मेरे पास आई हों तो बतादए। प्रेम जी प्रेम ने सभी समीक्षाओं को दिशा बोधक रूप में स्वीकार किया। यह उनका जीवन-बोध का स्पृहणीय पक्ष था—सदा खुली दृष्टि से अग्रसर होते रहना और सीखने की ललक से अनुप्राणित होते रहना।

सन् 79 में मै सेवानिवृत्त होकर कोटा आ गया और उनके सीखने की ललक ने हमें अधिक निकट ला दिया। वे प्राय मिलते रहते और हाडौती-लेखन के विषय में चर्चा करते रहते। सन् 1980 में बानगी' का प्रकाशन समारोह समिति ने किया जिसमें श्री प्रेम जी प्रेम ने अग्रणी भूमिका निभायी। उसमें मेरा लेख 'लिपि को सवाल' शीर्षक से प्रकाशित किया, जो जागती जोत' जून 1978 का मेरे द्वारा लिखा सपादकीय' था। मुझे तो 'बानगी' के प्रकाशन का और उसमें मेरे लेख के होने की जानकारी भी तब मिली जब वे पुस्तक को मेरे घर देने आये। बड़ों के प्रति उनके मन में अतीव आदर भाव था, जिसकी सहज अभिव्यक्ति ऐसे प्रसगों से होती है।

केन्द्रीय साहित्य अकादमी, दिल्ली ने एक अत्यन्त वृहत् परियोजना बनाई और देश की सभी भाषाओं के चुने हुए लेखकों को उसमें स्थान दिया। राजस्थानी भाषा के साहित्यकार के रूप में प्रेम जी प्रेम कोटा के सर्वप्रथम एक मात्र साहित्यकार हैं जिन्हें भारतीय साहित्य (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इडियन लिटरेचर) 'विश्वकोश' में स्थान मिला है। प्रस्तुत पक्तियों के लेखक ने अग्रेजी भाषा में उनका सक्षिप्त परिचय विश्वकोश' के लिए तैयार किया और वह प्रकाशित हो गया। तब प्रेम जी प्रेम का मुझे असामान्य सहयोग मिला, क्योंकि परिचय कोश की रीति-नीति के अतर्गत ही देना था। उन्होंने जिस व्यवस्थित रूप में मुझे जानकारी उपलब्ध कराई और वह भी अग्रेजी भाषा में वह मेरे लिए उपादेय सिद्ध हुई। थोड़ी-बहुत कतर-ब्यौंत के अतिरिक्त मुझे अधिक श्रम नहीं करना पड़ा।

अनेक गोष्ठियों में मुझे उनके गीत सुनने के अवसर मिले, जिन्हें वे अपने सधे कण्ठ से गाया करते थे। तब गीतों का सगीत और उनका भाव-गाभीर्य मुझे प्रभावित करता रहता था। अधिकाश मचीय गीतों में कण्ठ-कला का प्रदर्शन तो मिलता है, पर काव्य-कला-पारखियों को वे प्रभावित नहीं कर पाते। प्रेम जी प्रेम को मैं ऐसे रचनाकारों के अपवाद-स्वरूप मानता रहा। म्हारी कवितावा को केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया यह उनके एव हाड़ौती क्षेत्र के लिए गौरव एव सम्मान की उपलब्धि थी। इस पुरस्कार के पश्चात् प्रेम जी प्रेम में मैंने बदलाव देखा जो सामान्य व्यक्ति से भिन्न प्रकार का था। वे अधिक विनम्र एव सौहार्द सम्पन्न बन गये और उनमें आत्मविश्वास अधिक गहरा गया। तब इस सग्रह की कविताओं का रसास्वादन लघु-सी मनुहार पर भी कराने लगे। मुझे वे यह सग्रह पुरस्कार से पूर्व भेंट कर गये थे, जो मुझे सुन्दर काव्य कृति लगी थी।

मुझे जब राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ने अपने सर्वोच्च 'मीरा पुरस्कार' से सम्मानित किया तब प्रेम जी प्रेम को अतीव हर्ष हुआ। तब उन्होंने तीन लेख मेरे व्यक्तित्व एव कृतित्व पर लिखे और अपने सम्बन्धों का मुझे प्रतिष्ठित करने के लिए भुनवाया। उनका प्रेस से निकट सम्बन्ध था। जिसका लाभ वे मुझे दे रहे थे। वे कुछ और लिखना चाह रहे थे, पर मैंने ही उन्हें रोक दिया और कह दिया कि जो कुछ आप लिख चुके वह मेरे लिए पर्याप्त है।

मैं प्रेम जी प्रेम से अस्पताल में अनेक बार मिला। हृदय रोग से पीड़ित वे शैया पर लेटे हुए अपने चिकित्सक के निर्देशों का कठोरता से अनुपालन कर रह थे। वे नयनों की भाषा बोलते थे, जिह्वा की नहीं। तब मुझ प्रसन्नता होती थी कि डॉक्टर के परामर्श के प्रति उनमें इतनी निष्ठा एव ईमानदारी है। पर अस्पताल स छुट्टी मिलने के पश्चात् वे भूल गये कि वे हृदयरोगी रह चुके हैं। वे पूर्ववत् सक्रिय हो गये। घूमते हुए वे एक-दो बार मेरे निवास पर भी आये (घूमना हृदयरोगी के लिए आवश्यक है)। मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि उनके घूमने का दौर दूर-दूर तक चलता था। मेरे परिवार में हृदयरोग यत्र-तत्र प्रकट होता रहता है अत मुझे व्यावहारिक ज्ञान था कि क्या करणीय अकरणीय है और उसकी जानकारी प्रेम जी प्रेम को देता रहता था। उन्हें मैंने जोर देकर कहा था कि बाहर दिखा आओ। नियत तिथि पर अपनी चिकित्सा के लिए बाहर (एस्कोर्ट अस्पताल) भी जाना था, पर परमात्मा द्वारा नियत तिथि तो उससे पूर्व ही आ गई और वे हमे सदा के लिए छोड़ गये।

स्मृति-शेष प्रेम जी प्रेम कितने लोकप्रिय थे, इसका प्रमाण उनकी शव यात्रा के समय उमड़े जन-सैलाब के रूप में मैंने देखा। उसमें साहित्यकार, बुद्धिजीवी, राजनेता, समाज-सेवी, सामान्य श्रमिक आदि सभी स्तरों के व्यक्ति थे। सभी गलदश्रु थे। सभी ने तो अपना प्रियजन खो दिया था। अल्पायु में जो लोकप्रियता उन्होंने प्राप्त कर ली थी, वह अभूतपूर्व है।

इस अचल को स्वर्गीय प्रेम जी प्रेम से अनेक आशाए थीं। उनमें इस अचल की सस्कृति के प्रति समर्पण भाव उद्वेलित था। यह उद्वेलन स्वार्थवश नहीं, अपितु त्यागवश था। इसी ने उनके जीवन को मिशन बना दिया था। मिशनरी जीवन जीने वाले प्राय दीर्घजीवी नहीं होते, पर अपने स्वल्प जीवन मे भी वे समाज को उसका देय दे जाते हैं और दिशा-बोध कर जाते हैं। वे नवीन पथ का निर्माण कर जाते हैं। प्रेम जी प्रेम का मार्गानुसधान समर्पित धीर पथिकों की अपेक्षा रखता है।

नन्दिनी और मेरा नन्दन-वन

डॉ. बद्रीप्रसाद पचोली

पुत्र को कवि आनन्द-ग्रन्थि कहे तो इसे स्वाभाविक सस्कारशीलता ही माना जाना चाहिए। वैयाकरण पुत्र को नन्दन नाम देते हैं और पुत्री को नन्दिनी। वसिष्ठ ने देवदुघा धेनु की पुत्री को नन्दिनी कहा और उसे अपनी सिद्धि सपदा बना लिया। इक्ष्वाकुवशीय दिलीप ने उसी नन्दिनी की सेवा करके महाप्रतापी रघु को पुत्र के रूप में प्राप्त किया।

कालिदास के रघुवश में दिलीप की कहानी को पढकर किशोर मन में यह चाह जगना सर्वथा सभव है कि सिद्धिदात्री किसी नन्दिनी की सेवा करूँ और अभीष्ट सिद्धि पा लूँ। सुना था सूत्र—चाहो और पा लो। इस सूत्र को साकार होते तब देख लिया जब सचमुच नन्दिनी सामने खड़ी थी और उसकी सेवा करने का अवसर आ गया था।

नन्दिनी मेरे गुरु डॉक्टर फतहसिंह की गाय की बछिया थी। कपिल वर्ण की नन्दिनी को देखकर कामधेनु सुता नन्दिनी का स्मरण हो आना स्वाभाविक था। इसी भावना के साथ आकाश छूने वाला कल्पनाओं का प्रवाह नित्य तरगित होता रहता था मानस-सर में। नन्दिनी-सेवा का प्रसाद मिलेगा—यह विश्वास था, पर कैसा मिलेगा—*यह ज्ञात नहीं था। ज्ञात होता तो भी क्या कर लेता? समय के प्रवाह के साथ बहना था।*

ग्रामीण वातावरण में पला विद्यार्थी था। बचपन में हाईस्कूल परीक्षा पास करते ही विवाह हो गया। पत्नी साथ में थी। अपनी आजीविका कमाते हुए पढ़ना था। एक दिन डॉ. फतहसिंह की पत्नी, माता श्यामाकुमारी चौहान ने पत्नी को बुलाया, गोदी में बिठाया और उसके हाथ में घर की चाबी देते हुए कहा—देखो बहूटी, डॉ साहब का तबादला श्रीगंगानगर हो गया है। हम सब जा रहे हैं। यह घर सभालो।

बहूटी को घर मिला तो सेवा के लिए नन्दिनी भी मिल गई और धर्मपत्नी के साथ गो सेवा का धर्म निभाने का अवसर भी आ गया। नित्य प्रात उठकर गोबर उठाना, सफाई करना, समय पर चारा डालना, पानी पिलाना, बाँटा खिलाना—साथ ही नन्दिनी रूठ जाए तो उसे मनाना और कभी स्वय रूठ कर नन्दिनी को विवश करना कि वह भी मनावे हमें। जीवन की पोथी को पढ़ने का, जीवन में जीवनरस भरने और उसे अनुभव करने का अनुपम अवसर था।

भर्तृहरि का श्लोक पढ़ लिया—*सेवा-धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्य ।* वैसे ही पढ़ लेता तो समय बीतने पर भूल जाता। गो सेवा करते हुए पढ़ा तो सेवा का

मर्म सचमुच हृदयगम हो गया। प्रकृति के साथ एकाकार होने और मानवतर प्राणियों के मनोविज्ञान को समझने की दृष्टि नन्दिनी ने ही प्रदान की---यह कहने में मुझे कोई सकोच नहीं है।

नन्दिनी मनस्यावती हो गई थी। वह प्रसन्न रहे या रुष्ट, रहती हमारे ही साथ थी। एक बार तो मैं पढ़ाने के लिए साइकिल से विद्यालय गया तो मेरी साइकिल के पीछे दौडती हुई तीन किलोमीटर दूर विद्यालय में चली गई। कक्षा में गया तो नन्दिनी कक्षा के द्वार पर खडी रही जैसे देख रही हो कि अध्यापक के रूप में मैं कैसे लगूगा। अपने 35 वर्ष के शिक्षक-जीवन में मैंने कक्ष के द्वार पर प्रतिदिन नन्दिनी को खडे देखा है और कक्षा के भीतर अपने इष्टदेव बालक राम को। महात्मा तुलसीदास ने 'इष्टदेव मम् बालक रामा' उक्ति मेरे ही लिए लिखी थी कदाचित्। अपने राम स्वरूप इष्टदेव बालक का निर्माण करने में पूरा ईमानदारी बरतू यह शक्ति मुझे नन्दिनी ने ही दी---ऐसा प्रतीत होता है।

बचपन में माता से दूर अपने नाना के पास रहा। वहा ग्यारसी गाय के नीचे बैठ कर सीधा स्तनों के मुह लगा कर दूध पिया करता था। हाईस्कूल में पढने बारा चला गया तो ग्यारसी ने इहलीला त्याग दी। कुछ समय तक मैं मातृस्नेह से वचित हो गया। अपनी पीडा को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द तक चुक गए थे। मुह लटका कर निराशा का जीवन जीते हुए कालेज में जा पहुँचा। वहा नन्दिनी माता ग्यारसी का अवतार बनकर प्रकट हुई जीवन में। ग्यारसी ने स्तन्य पिलाकर जो शक्ति दी थी उसको जीवन सज्ञा प्रदान की नन्दिनी ने।

नन्दिनी की सेवा से कोई सिद्धि मिलेगा कोई वरदान मिलेगा---यह अनजाना विश्वास कभी साथ नहीं छोड पाया।

एक दिन सस्कृत के प्रोफेसर स्वामी सुरजनदास जी आये और कहने लगे---नन्दिनी की अच्छी सेवा कर रहे हैं। इसकी माता का दूध कैसा है? मिलावटी दूध रास नहीं आता। सोचा तुम से कहू।

मेरी पत्नी ने कहा---स्वामी जी! हम तो नन्दिनी के भरपेट दूध पी लेने के बाद इतना ही दूध निकालते हैं जितना हम दोनों के लिए पर्याप्त हो। आप के लिए भी निकाल कर गर्म करके रख दिया करूगी। आप पी लिया करें।

उस दिन से स्वामी जी दूध पीने आने लगे। प्रायः समय पर दूध निकालने के समय आते और धारोष्ण दूध पीकर चले जाते। एक दिन उद्दण्डता सूझी। दूध निकाल कर एक पात्र में रख दिया और खाली बाल्टी में पानी डालकर हिलाकर वह झाग भरा सफेद पानी स्वामीजी को दे दिया। वे उसे प्रशसा करते हुए नित्य की तरह पी गए।

आँखों में आँसू आ गए। सज्जन कितने सरल-चित्त होते हैं?---यह सोच-सोच कर मन भर आता था। पत्नी ने उस दिन भोजन नहीं किया। कुछ दिन बीत जाने

पर निर्भर तब हुआ जब स्वामी जी से मैंने सारा वृत्त निवेदन कर दिया। वे हसते रहे। बोले—दूध तो या हा भले हा पानी मिल गया हा। इसीलिए पा गया।

प्रायश्चित तो कर लिया, पर मेरी पत्नी ने स्वामी जी से कह दिया—ये आपके उद्दण्ड शिष्य हैं। स्वामी जी के सहज स्नेह के पात्र अनेक शिष्य थे। वे उनको प्रात काल से आधी रात तक पढ़ाते रहते। समय पर आर्थिक सहायता भी करते। उनके बराबर गुरुभक्ति तो मैं कभी प्रदर्शित नहीं कर सका, पर स्वामी जी ने अपने 'उद्दण्ड शिष्य' को भी समान स्नेह प्रदान किया। स्वामी जी के सान्निध्य में 'आचार्यवान्' बनने का सौभाग्य नन्दिनी के ही कारण मिला—यह अनुभव करता रहा।

स्वामी सुरजनदास षड्तीर्थ थे। वे सरल और सौम्य स्वभाव के थे। बालक जैसी निर्मलता थी उनके व्यवहार में। कोटा के राजकीय महाविद्यालय में आते ही कक्षा में प्रथम साक्षात्कार हुआ उनसे। मैंने सहज जिज्ञासावश प्रश्न कर लिया—'आखण्डल' शब्द की व्युत्पत्ति बताइए? उनको यह कहते कोई सकोच नहीं हुआ कि अभी याद नहीं है— देखकर बताएगे।

विद्वता और वाग्विदग्धता में बेजोड़ स्वामी सुरजनदास ने कई विद्वत्सभाओं में सहज रूप से कहा—यहा ऐसे शिष्य भी बैठे हुए हैं जिनके प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं आया था।

कई लोग अपनी योग्यता की धाक जमाने के लिए बढ़ा-चढ़ा कर बातें करते रहते हैं, पर स्वामी जी को इसी बात का गर्व था कि उनको प्रश्न का उत्तर नहीं आया था। शिक्षक को गर्व और आडम्बर से दूर रहना चाहिए, यह शिक्षा स्वामी जी ने यों दी—अपनी कमी को स्वीकारें और उसे दूर करें।

दूध पीने आते तब स्वामी जी नन्दिनी के साथ मेरी तरह से ही खेला करते थे। नन्दिनी हमको अपने हिस्से का दूध पिलाती थी। इसलिए प्रेरणा भी समान ही देती थी। स्वामी जी दादूपथी साधु थे। श्वेत धोती-कुर्ता उनकी वेषभूषा थी। वे रामद्वारे में रहते थे। वे उन्नत सुदृढ काया के धनी थे। उनका कर्मठ व्यक्तित्व हम सबके लिए प्रेरणा का स्रोत था। नन्दिनी ने उनके व्यक्तित्व में सहज-स्निग्धता भर दी थी।

वे बहुत परिश्रमी प्राध्यापक थ। किसी भी विषय पर व गहरा चिन्तन करते थे और अपने निष्कर्ष सहित सारी सामग्री एकत्र करके कक्षा में परोस दिया करते थे। इससे छात्राए बड़ी प्रसन्न रहती थीं। पर मुझे खिन्नता रहती थी। वे मुझे सोचने और करने के लिए कुछ भी नहीं छोड़ते थे। इसे वे छात्रों के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण करते थे, पर मुझे लगता था कि वे छात्र की योग्यता पर विश्वास नहीं करते हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि इस तरह सारी पाठ्य सामग्री परोस दने से छात्र में आत्मनिर्भरता और स्वालम्बन की प्रवृत्ति का समुचित विकास नहीं हो पाता।

स्वामी जी का परिश्रम सार्थक होता था। एम ए (सस्कृत) के छात्रों को विश्वविद्यालय में सर्वोच्च अक मिला करते थे। इससे महाविद्यालय को भी गर्व करने

का अवसर मिला करता था। मैंने कभी अपना परीक्षा परिणाम औरों से नहीं देखा। स्वामी जी ही सूचित करते थे।

अपने मन की प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए संस्कृत परिषद् की ओर से खीर बनवाई जाती। प्रत्येक छात्र के लिए एक सेर दूध और आधा छटाक चावल का आदेश होता। वे छात्रों के पैसे से कुछ भी खाने के लिए तैयार नहीं होते थे। इसलिए प्राय सारी राशि अपने पास से देते थे।

जिन्होंने स्वामी जी को कक्षा में पढ़ाते हुए देखा है वे जानते हैं कि पाठ्य विषय को पूरी तरह से समझा चुकने के बाद व कक्षा से निकलते तब प्रसन्नता से गरदन हिलाते हुए हाथ झाड़ते रहते थे। यदि विषय स्पष्ट नहीं होता तो स्वामी जी कक्षा से बाहर निकलने पर हाथ मसलते और झुंझलाते रहते थे। शिक्षक का सन्तोष क्या होता है—यह मैंने उन्हीं से सीखा।

स्वामी जी 28 दिसम्बर, 1950 को प्राध्यापक बने थे। उनके नियुक्ति आदेश में 1950 के स्थान पर 1957 टाइप हो गया। यह त्रुटि 1957 तक ठीक नहीं हो सकी। तब तक उनको वेतन नहीं मिला। पहले आयुर्वेद विभाग में पत्रोयक थे। उसका न्यूनतम वेतन ही मिलता रहा। सन्यासी थे इसलिए खर्चा अधिक नहीं था। कोई गृहस्थ होता तो इतने लम्बे समय तक खाता क्या? नौकरी छोड़कर भाग जाता।

स्वामी जी अधिक से अधिक समय छात्रों को देना चाहते थे। यदि कोई सामने नहीं होता तो किसी सद्ग्रंथ का स्वाध्याय करते रहते थे। वे जयपुर के प मधुसूदन ओझा के पट्ट शिष्य थे। पंडित जी ने वेद की स्वोपज्ञ सृष्टिविज्ञानपरक व्याख्या की है। स्वामी जी प्राय उनके ग्रंथों का आलोड़न विलोडन करते रहते।

उनका अगाधचिन्तन अधिकाधिक लोगों के लिए लाभप्रद हो—इस हेतु मैंने स्वामी जी से रस, व्याकरण निरुक्त आदि पर ग्रंथ लिखने का आग्रह किया तो स्वामी जी बोले—शिक्षक को ग्रंथ नहीं लिखना चाहिए। उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा। सेवा निवृत्ति के बाद रस पर उनका चिन्तन 'रस की साहित्यशास्त्रीय समीक्षा' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। शतपथ के एक खण्ड का सपादन भी उन्होंने सेवानिवृत्ति के बाद ही किया। मधुसूदन जी की वेद व्याख्यान शैली पर अपना चिन्तन कई लेखों में प्रस्तुत किया। यह सब पहले भी लिखा जा सकता था। वे अपनी कृतियों पर कई पुरस्कार प्राप्त कर सकते थे, पर स्वामी जी अपने और शिष्यों के बीच में किसी को भी यहां तक कि स्वयं को भी नहीं आने देना चाहते थे।

मैंने वैदिक गोतत्त्व पर शोध की तब मेरे सामने नन्दिनी और उसा जैसे स्वामी जी सदैव सामने रहते थे। गो विषयक चिन्तन को आधार मानकर भारतीय समाज सगठित और सुव्यवस्थित हुआ। गोचर्यां नैगमश्चरेत्—सनातनी लोगों ने कहा तो जैन और बौद्ध परम्परा में भी गोचरी को ही आदर्श माना गया। नन्दिनी की सेवा ने मेरे लिए शोध की दिशा निर्धारित की।

'गो-ब्राह्मणहिताय' में मर लिए ब्राह्मण के आदर्श प्रतिरूप स्वामी सुरजनदास थे। जन्मना वे ब्राह्मण नहीं थे, पर कर्मणा—जैसे ब्रह्म श्रम साकार हो उठा हो।

डॉ फतहसिंह और माताश्री श्यामाकुमारी (अब स्वर्गस्थ) ने मुझे नन्दिनी के रूप में जीवन दृष्टि दी जिसकी सेवा के प्रसंग में, सेवा के प्रसाद के रूप में स्वामी सुरजनदास के प्रेरक स्नेह को पाया। जीवन नन्दन-वन यों बना। ●

कितने बहुरंगी थे रांगेय राघव!

डा मनोहर प्रभाकर

13 सितम्बर रांगेय राघव की पुण्यतिथि है। वह मनहूस दिन मेरी स्मृति में आज भी ताजा है, जब 32 वर्ष पूर्व मुझे उनके निधन का समाचार मिला था। कितना शोक-निमग्न हो गया था तब मैं। उस विह्वलता और मानसिक उद्वेग की स्थिति में मैंने जो उद्गार अपने एक लेख में व्यक्त किए थे और जो अगले सप्ताह ही उस समय पराड़करजी द्वारा सम्पादित काशी के 'आज' में छपा था, वह मेरे पास अभी भी सुरक्षित है।

रांगेय राघव से मेरी मुलाकात सन् 1957-58 में किसी समय हिन्दी के सुपरिचित कथाकार भाई यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने कराई थी। तब वे सी-स्कीम स्थित अपने भाई टी एन के आचार्य के परिवार के साथ ठहरे हुए थे। तब उनकी पत्नी सुलोचना महारानी कॉलेज के प्रथम या द्वितीय वर्ष की छात्रा थी। उनकी उस समय की जयपुर यात्राओं के मूल में कदाचित् यही मुख्य कारण था।

रांगेय राघव से मेरी दूसरी मुलाकात सहकारी विभाग की नाटक-मंडली में कार्यरत कलाकार कृष्ण बिहारी शर्मा के गांधी नगर स्थित सरकारी निवास पर हुई थी। कृष्ण बिहारी की उनसे बड़ी अन्तरंग मैत्री थी। मैंने तब उन्हें अपनी बाल साहित्य की उन्हीं दिनों पुरस्कृत पुस्तकों का एक सैट भी भेंट किया था, जिस पर उन्होंने मुझे बधाई देते हुए टिप्पणी भी की थी, 'अरे मनोहर प्रभाकर! ये किताबबिया मत लिखो। ग्रंथ लिखो ग्रंथ! जिन्हें देखकर हा थाय बैठ जाए।'

विभिन्न विधाओं में 200 के आसपास पुस्तकें लिखने वाले और अहर्निश स्वाध्याय और लेखन में ही निमग्न रहने वाले विनोदी और सरल स्वभाव के लेखक की यह अभ्युक्ति अस्वाभाविक नहीं थी। हमारी मुलाकातों और पत्राचार का यह सिलसिला चलता रहा। मैं बराबर उनसे यह आग्रह करता रहा कि उन्हें वैर जैसे छोटे गांव को छोड़कर जयपुर में स्थाई रूप से रहना चाहिए। वे इस प्रश्न पर स्थिर नहीं थे। कभी उनका मन दिल्ली में बसने का होता तो कभी वे जयपुर में बसने की बात करते। अन्तत 1961 में वे जयपुर आ गए और यह भी एक संयोग ही था कि वैकल्पिक व्यवस्था के अभाव में वे मेरे ही मकान में रहने लगे। जब वे जयपुर आए, तब तक वे कदाचित् कैंसर के शिकंजे में पूरी तरह जकड़े जा चुके थे पर निदान नहीं हो पाया था। पहले कुछ दिनों उन्होंने आगरा में इलाज कराया और बाद में जयपुर में एक डॉ भट्टा से वे अपना चिकित्सा कराते रहे। जब हालात बद से बदतर होने लगे तो उन्हें

डॉ. राबर्ट हैलिंग का दिखाया गया जिन्होंने निदान करके उन्हें तत्काल बम्बई के टाटा मेमोरियल अस्पताल में ले जाने का परामर्श दिया, जहां से वे लौटकर नहीं आ सके। उनके जयपुर प्रवास में मेरा और उनका जो निकट साहचर्य रहा उसकी खट्टी-मीठी यादें मेरे मानस पर आज भी मंडराती रहती हैं।

हमारे सामाजिक चरित्र की एक बड़ी विसंगति यह है कि जब तक व्यक्ति जाता है, हम उसे चैन से जाने नहीं देते और जब वह दिवंगत हो जाता है तो उसकी प्रशस्तियों के पुल बांधने लगते हैं। रांगेय राघव के विरोधियों की संख्या भी कम नहीं थी। उनके विपुल परिमाण में किए गए लेखन को नकारने वाले भी कम नहीं थे। अक्सर उनके बारे में यह परिहासपूर्ण टिप्पणी भी की जाती थी कि वे प्रतिदिन कागज तोलकर लिखते हैं। भर्तृहरि ने कहा है कि सज्जनों का ऐसा कौनसा गुण नहीं है, जिसको दुर्जन लोग दुर्गुण घोषित नहीं करते। रांगेय राघव के लेखन पर भी यह टिप्पणी ऐसे ही दुर्जन लोग करते रहते थे। इसके बावजूद मैंने अपने संबंधों के दौरान इस सत्य से बराबर साक्षात्कार किया कि रांगेय राघव जहां अत्यधिक सरल और विनोदप्रिय थे, वहीं वे अपने विरोधियों पर कुटिल हास्य करने और उन्हें अपशब्दों से अपमानित करने से भी नहीं चूकते थे। इतिहास साक्षी है कि हर कद्दावर लेखक और कलाकार की अपना कुछ सनकें और कुछ चारित्रगत दुर्बलताएं होती हैं। रांगेय राघव भी दुर्बलताओं से बिलकुल मुक्त रहे हों, ऐसी बात नहीं है। रांगेय राघव के व्यक्तित्व की कुछ ऐसी परतें हैं, जो उद्घाटित होने पर उनकी स्वभावगत दुर्बलताओं को प्रकट करती हैं, किन्तु वे उनके व्यक्तित्व की खूबसूरती को भी बढ़ाती हैं और उसे इन्द्रधनुषी बनाती हैं। उनकी सरलता के दो उदाहरण मैं अपने ही संदर्भ में देना चाहूंगा।

एक दिन की बात है, वे डिक्टेशन देकर थक कर ऊपर मेरे पास आए और कंधे पर जोर से हाथ मारकर बोले, 'दोस्त! आज तो धाय-धाय 40 पेज का डिक्टेशन दिया है। स्टेनो भी चीं बोल गया।' फिर न जाने उन्हें क्या सूझी कि वे अपने ही कथन की निन्दा करने लगे 'हाय हाय! यह बात कहकर मैंने स्वयं ही अपना गौरव नष्ट कर लिया। आगे से यह भूल नहीं होगी।' और इसके साथ ही कान पकड़ कर उठक-बैठक लगाने लगे। मैं हतप्रभ रह गया। उन्हें बड़ी मुश्किल से पास खींचकर बैठाया और सिगरेट हाथ में थमा दी।

इसी प्रकार एक बार मेरी पत्नी ने ऊपर से मेरे छोटे पुत्र पप्पू को किसी कार्यवश आवाज लगाई और उधर तपाक से रांगेय राघव अन्दर से निकल कर चौक में आकर मेरी पत्नी से बोले 'कहिए क्या आज्ञा है?' दरअसल, उनका अपना घर का नाम पप्पू ही था और उनसे बड़े उन्हें पप्पू कहकर ही पुकारते थे। मेरी पत्नी बेचारी हक्की-बक्की रह गई।

रांगेय राघव की सरलता इस बात से भी कम प्रकट नहीं होती कि उन्होंने वैयक्तिक प्रकृति के आग्रहों पर बहुत सारा लेखन ऐसा किया जो कदाचित् उन्हें नहीं

करना चाहिए था। इन पुस्तकों के लेखन में उन्होंने सहलेखक के रूप में भरतपुर जिले के एक राजस्व अधिकारी से लेकर आजकल आगरा विश्वविद्यालय में कार्यरत डॉ गोविन्द शर्मा रजनीश तक को सम्मिलित किया था। गोविन्द उस समय एम ए के विद्यार्थी ही थे। इसी तरह काव्य-कलश नाम से उन्होंने एक स्थानीय प्रकाशक के लिए सैकण्डरी कक्षाओं के छात्रों के लिए पाठ्य पुस्तक भी तैयार की थी, जिसकी प्रति मेरे निजी पुस्तकालय में आज भी सुरक्षित है। आगरा के एक प्रकाशक के लिए उन्होंने समाजशास्त्र से सबधित जो पुस्तकमाला तैयार कराई थी, उसमें कई लोगों को शामिल किया था।

रागेय राघव की सबसे बड़ी पीड़ा यह थी कि वे अपने आप को एक मूर्धन्य कवि के रूप में स्थापित देखना चाहते थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में तो उन्होंने अनेक प्रकाशकों को यह शर्त रख दी थी कि जब तक वे उनका कविता संग्रह प्रकाशित नहीं करेंगे, वे उन्हें नए उपन्यास प्रकाशनार्थ नहीं देंगे। उनकी कुछ गेय कविताओं के प्रसग में मेरे द्वारा दिए गए सुझावों से प्रभावित होकर उन्होंने राजपाल एण्ड सस से अपने कविता संग्रहों की पाडुलिपियां वापस मंगाकर मुझे दिखाई थीं और अपनी सहज सरलता से मेरे द्वारा दिए गए सुझावों के अनुसार उन्हें सशोधित भी किया था।

रागेय राघव एक महान् लेखक, उद्भट विद्वान् और सवेदनशील मित्र थे। किन्तु वे जिसे नापसन्द करते थे उसकी कटु निन्दा करने से भी नहीं चूकते थे। नेहरू जी और राधाकृष्णन के बारे में वे अक्सर बड़ी प्रतिकूल टिप्पणियां किया करते थे। राधाकृष्णन के बारे में तो उनका कहना था कि यदि वे अंग्रेजी के पंडित नहीं होते तो उन्हें जो प्रसिद्धि मिली वह कदापि नहीं मिलती। रागेय राघव की दृष्टि में दर्शन के ऐसे अनेक प्रकाण्ड विद्वान् थे, जो राधाकृष्णन की तुलना में कहीं अधिक कद्दावर कृतित्व के धनी थे। हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक अज्ञेय जी से भी उनकी मैत्री नहीं थी। अज्ञेय से अपनी पहली और अंतिम मुलाकात का जिक्र करते हुए उन्होंने मुझसे एक बार कहा था कि दिल्ली आकाशवाणी में मैंने जैनेन्द्र के साथ उन्हें देखा था और जैनेन्द्र ने अंग्रेजी में अज्ञेय से केवल इतना सा परिचय कराया था मीट अज्ञेय, दी ट्रासलेटर ऑफ माई नाविल 'त्याग पत्र'।

उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा का मखौल भी वे कम नहीं उड़ाते थे। एक बार जब वे उनके घर मालीवाड़ा में ठहरे हुए थे तो वापसी पर उन्होंने मुझसे कहा था, 'यार, इस बार बुरा फसा, पहुँचने के दूसरे दिन ही यज्ञदत्त अपने नए उपन्यास की पाण्डुलिपि लेकर बैठ गया और शुरू कर दिया उसका पाठ। पास में बैठी यज्ञदत्त की बीवी इस भाव से देख रही थी कि जैसे कह रही हो कि देखो, मेरा अलैक्जेण्डर ड्यूमा क्या लिखता है।'

राजेन्द्र यादव और सुधीन्द्र के लिए भी वे अक्सर अवांछित शब्दावली का प्रयोग ही करते रहते थे। सुधीन्द्र को हमेशा कन्नौजिया कहकर उनकी आदतों का

बखान किया करते थे। किन्तु प्रेमचन्द्र के पुत्र श्रीपत राय से उनकी अच्छी मैत्री थी। व उनके प्रशसक भी थे।

बर्मा शैल या कॉल टैक्स कपनी में काम करन वाले अपने साले द्वारका के अग्रेजी प्रेम का वे अक्सर मखौल उड़ाते थे। उनके अहकार का एक उदाहरण मुझे आज भी याद है। उत्तर प्रदेश शासन ने जब उनकी पुस्तक प्राचीन भारतीय परम्परा और साहित्य' को पुरस्कृत किया था, तो उनके प्रकाशक द्वारा दिल्ली के वोल्गा होटल में एक पार्टी का आयोजन किया गया था। इसमें जब आत्माराम एण्ड सस के स्वामी राम लाल पुरी ने 'देशी रजवाड़े' नामक पुस्तक के रचयिता देवेशदास से उनका परिचय कराया तो उन्होंने मुह बिचकाकर केवल अपना सिर हिला दिया। देवेशदास आई सी एस अफसर थे और कदाचित् रागय राघव ने यह भगिमा इसलिए अपनाई थी कि देवेशदास बड़े सरकारी अफसर भल ही हों, पर बड़े लेखक नहीं थे। वैसे भी बड़े ब्यूरोक्रेट्स से उन्हें सख्त चिढ़ थी। इस मामले में वे अपने बड़े भाई एल एन आचार्य को भी नहीं छोड़ते थे, जो उन दिनों फैजाबाद में कलक्टर थे।

ऐसे एक नहीं अनेक प्रसगों का उल्लेख उन्होंने मेरे साथ अतरग क्षणों में किया था। यह भी सयोग की ही बात थी कि उनकी मृत्यु के उपरात राजपाल एड सस ने जब उनकी ग्रथावली का प्रकाशन किया और पूर्व मुख्यमत्री जगन्नाथ पहाड़िया द्वारा दिए गए आदेशों की अनुपालना में जब उनकी चार लाख रुपए मूल्य की पुस्तकें क्रय की जा रही थीं तो कुछ प्रकाशकों ने यह बखेड़ा कर दिया था कि ग्रथावली में सम्मिलित कतिपय पुस्तकों का कापीराईट उनके पास है। इन आपत्तियों के कारण कुछ व्यवधान सामने खड़े हा गए थे और तत्कालीन शिक्षा आयुक्त के के भटनागर ने अनौपचारिक रूप से रागेय राघव ग्रथावली की क्रय सबधी पत्रावली उनके एक विश्वासपात्र के माध्यम से मेरी अनौपचारिक सम्मति के लिए भिजवाई थी और किसी तरह समस्या का समाधान हो सका था। यह एक त्रासदी ही है कि जहा आगरा भरतपुर, वैर और राजस्थान के दूसरे हिस्सों में साहित्यकर्मी और साहित्यिक सस्थाए उनकी स्मृति में कुछ न कुछ उपक्रम करती रहती हैं, उनके पुण्यों का विक्रय करके खाने वालों ने उनकी याद में ऐसा कुछ नहीं किया, जिससे वे उनके ऋण से उऋण हो सकें। ●

ये जो थे शरद जोशी

यशवन्त कोठारी

ये 1977 की गर्मियों के दिन थे। शरद जोशी किसी कवि सम्मेलन के चक्कर में उदयपुर आये थे। मैं उनसे मुलाकात करने के लिए होटल में पहुँचा। नाम सुनते ही शरद भाई बड़े तपाक से मिले।

'यार पार्टनर तुम्हारा नाम तो जाना पहचाना है।'

मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि देश का लब्धप्रतिष्ठ लेखक मुझे जानता है। बातचीत के दौरान उन्होंने उदयपुर-दर्शन की इच्छा व्यक्त की। होटल से हम दोनों मिटी पैलेस, म्यूजियम, सहेलियों की बाड़ी, फतेहसागर पर आवारागर्दी करने निकल पड़े। दाल-बाटी की संगत की।

उन दिनों वे उत्सव फिल्म के संवाद लिख रहे थे। वसन्त सेना पर बड़ी बेबाक टिप्पणियां करते रहे। वसन्त, होली, कामदेव पर वे लगातार बोलते रहे। मैं श्रवण-लाभ लेता रहा। सायंकाल कवि सम्मेलन में ठंड बढ़ जायगी, अतः एक शाल उन्होंने मंगवाई।

इस पहली मुलाकात के बाद मैं बम्बई गया तो मानसरोवर होटल में उनसे मेरी फिर मुलाकात हुई। बातचीत हिन्दी व्यंग्य-लेखन, नाटकों पर चल पड़ी। कई मित्रों पर बड़ी आत्मीयतापूर्ण टिप्पणियां उन्होंने की।

कवि सम्मेलन के सिलसिले में वे अगली बार जयपुर आये तब मैं भी स्थानान्तरित होकर जयपुर आ गया था मैं अपने साथ उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तकें यथा सम्भव ले गया था, उन्होंने लिखा----

'प्रिय भाई यशवन्त को उसके द्वारा क्रय की
गई उसे ही सप्रेम।'

---शरद जोशी

23-3-1985

शरद जोशी से मैंने स्वतन्त्र लेखन-जीवी होने के गुर पूछे---कुछ गंभीर होकर बोले---

बड़ा मुश्किल है, पत्रकारिता या फिल्म जगत।

सायकाल आवारागर्दी करते रहे। एम आई रोड से उन्होंने बच्चियों के लिए कुछ दुप्पटे खरीदे। अपनी बहन से मिलने हेतु वे पार्नों के दरीबे मुड़ गये और मैं अपने घर की ओर चल दिया।

शरद भाई जब भी मिले पूरी आत्मीयता और अपनेपन के साथ। मुझे कभी लगा ही नहीं कि वे मुझसे काफी वरिष्ठ हैं।

हिन्दी एक्सप्रेस' के सपादक बनने के तुरन्त बाद उनका पत्र आया। जल्दी सामग्री भेजें । मगर मैं हो आलसी साबित हुआ। बाद में वे जब गौरे गाव के यशवन्त-नगर में रहने लगे तो एक बार मुझे कहा था— तुम्हारे नाम के नगर मैं रहता हूँ।' वे मेरी पुस्तकों की रचनाओं की यत्र-कदा प्रशसा और कठोर समीक्षा भी करते थे। उनसे तीन-चार बार की मुलाकातों में ही मुझे लग गया था कि मैं उनसे काफी सीख सकता हूँ। लेकिन घड़े में तो घड़े जितना ही समाता है।

शरद भाई का जन्म 21 मई, 1931 को उज्जैन (म प्र) में हुआ था। पद्मश्री से सम्मानित इस लेखक को बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है। यथा सभव' और नाटक 'अधों का हाथी मुझे विशेष प्रिय है। वे अक्सर कहते थे— भारत की जमीं पर व्यग्य ही सबसे ज्यादा फैलाने वाली फसल है। और आजकल के हालात देखने पर लगता है कि शरद भाई बहुत ठीक कहते थे। काश शरद भाई इतनी जल्दी नहीं जाते तो कुछ और अच्छी रचनाए देकर हिन्दी की गरीबी दूर करते। मगर अफसोस, वे नहीं हैं केवल उनकी रचनाए हैं, जो हमें उनकी याद दिलाती रहती हैं। शरद भाई ने बाद में फिल्मों में, उत्सव , मन का आगन' जैसी फिल्में दीं तो दूरदर्शन पर 'ये जो है जिन्दगी' 'देवी जी , विक्रम बेताल' जैसे धारावाहिक दिये। दूसरी ओर वे कवि-सम्मेलनों में कवियों से भारी लिफाफा प्राप्त करते रहे। उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार नहीं मिला, मगर यह अकादमी का दुर्भाग्य था, शरद भाई का नहीं।

शरद भाई को शत शत नमन। ●

देवेन्द्र जी सत्यार्थी के साथ एक शाम

डॉ. सत्येन्द्र चतुर्वेदी

अजमेर में उर्स के दिनों की बात है। बहुत बड़ी संख्या में लोग ख्वाजा साहब की जियारत करने स्टेशन पर उतरते थे। देश विदेश के कोने कोने से आगत विविधवर्णी वेशभूषा में नर-नारियों का मिलना भी अपने आप में एक आकर्षण है। उस दिन शहर के लिए निकले हुए मेरे कदम अनायास स्टेशन की ओर मुड़ गए। अचानक मेरा दृष्टि लम्बा चोगा चढ़ाये भव्य, शुभ्र केशराशि और दाढ़ी मंडित एक दीर्घाकृति पर पड़ गई। कल्पित ऋषि मुनियों की सी सौम्य मुद्रा, विशाल कलेवर उस महिमाशाली पुरुष को देखकर मन में सम्भ्रम और जिज्ञासा के मिले जुले भाव जागृत हुए। मैं बरबस आगे बढ़ा तभी समीप में मेरे एक मित्र दिखाई पड़ गये—मेरे पुराने साथी और हम पेशेवर सहयोगी। बस, सम्बन्ध जोड़ने में विशेष देर न लगी। अभी दो-तीन दिन पूर्व ही स्थानीय साहित्यिक संस्था 'अन्तर्भारती' के तत्वावधान में लोक साहित्य सम्बन्धी गोष्ठी हुई थी जिसमें अस्वस्थ होने के कारण मैं सम्मिलित न हो सका था। हठात् ध्यान आ गया कि उक्त गोष्ठी में देवेन्द्र जी सत्यार्थी का नाम भी आगतुक महानुभावों की सूची में था। और उसी क्षण उनकी पुरानी कई साल पहले की तस्वीर—जब वे 'आजकल' के सपादक थे और अक्सर अखबारों की सुर्खी के साथ छपते रहते थे, मन पटल पर उभर आई।

इसी बीच रेलवे पूछताछ कार्यालय से मुड़ते उन मित्र से आँखें चार हुई। काफी दिनों बाद पुराने साथी मिल रहे थे। बड़े भावविभोर हुए पर मेरे मन में तो पास ही खड़े (और अपने गरिमाशाली व्यक्तित्व की किरणों को इतस्तत छिटका रहे) वे विशिष्ट पुरुष अटके हुए थे। वे मित्र कहे जा रहे थे ये सत्यार्थी जी हैं, गोष्ठी के बाद यहां रुक गये पोपरजी देखे बिना जाने कैसे देते और सत्यार्थी जी हैं कि हाथ जोड़े ही खड़े हैं। मैं बड़ा सकुचित हो रहा था—सरलता और विनय की उस साक्षात् प्रतिमा के सामने। पर मन में बड़ा पुलक भी था—अनायास इस दर्शनोपलब्धि के सुयोग और सौभाग्य पर। तभी भीड़ का हल्का सा धक्का लगा और मित्र ने बताया कि सत्यार्थी जी अभी रात की ट्रेन से ही उदयपुर जा रहे हैं उनका रिजर्वेशन हो गया है और उनको अब बस अपने धुले कपड़े दुकान से लेने हैं। मैं किसी विशेष काम से तो बधा न था, यों ही इस समय की शहर की फिजा देखने निकला था। अत प्रत्यक्षत मित्र से बातें करता हुआ पर ध्यान में सत्यार्थी जी को लिए आगे बढ़ता रहा। किन्तु सयोग कुछ ऐसा हुआ कि धोबी की वह दुकान बद निकली और मित्र को उसके

घर पर जा उसे दुकान पर बुलाना जरूरी हो गया साथ ही मेरे लिए अलभ्य अवसर स्वतः मिल गया—सत्यार्थी जी के सान्निध्य को अनायास पा जाने का।

स्वयं सत्यार्थी जी की ओर से भी अगले क्षण यह प्रस्तावित हुआ कि मैं वहीं उनके पास रुका रहूँ यों कुछ चर्चा हो जायेगी, और मैं गद्गद् हो गया—मेरे मन में उभर आये साहित्यिक सज्ञाधारी कुछ वे क्षुद्रजीव जो अपने लघुताजनित अहंकार से लदे-फदे चाहे जब और हर जहाँ छलक पड़ने को आतुर घूमते-फिरते हैं और दूसरी ओर ये लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्य साधक, मजे हुए कलाकार देवेन्द्र सत्यार्थी—उनका वह आत्मीय निमंत्रण पा मैं धन्य हो उठा। उनके हाथ में किताबें थीं जो स्थानीय नाटककार श्री दिनकर ने उन्हें भेंट की थीं और एक मोटी सी फाइल थी। उन्होंने मुझसे कहीं प्रकाश में चल बैठने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने एक छोटा घिसा-पिटा सा पैंसिल का टुकड़ा निकाला और ध्यान नहीं जाने कहाँ से कोई ब्लेड भी उनके हाथ लग गया। उससे पैंसिल को संवारने की मुद्रा में बोले, 'कुछ इन दिनों छपने वाले उपन्यास पढ़ते हो?' अधिक समय न मिलने के कारण इस सम्बन्ध में मेरी असमर्थता प्रकट करने पर उन्होंने स्वयं अपनी ओर से कहा, अच्छा कहानी तो पढ़ पाते होंगे देखो मैं तुम्हें कहानी सुनाता हूँ। देखना युगबोध और शिल्प की दृष्टि से कैसी बन पड़ी है?' उसकी आधारभूमि, 'सिच्वेशन' आदि का खुलासा करते हुए आग्रह किया कि मुझे रचना में अगर कहीं भी कोई असंगति भाषा या भाव-व्यंजना की प्रतीत हो तो उन्हें अवश्य बताता जाऊँ।

फिर वह रचना जिसका शीर्षक—'हम सनम' था, सुनाना शुरू किया। मध्यपूर्व के वातावरण के पटल पर घटित उसका कथानक संकेतों और प्रतीकों से भरा था, पर उसमें रंग सत्यार्थी जी के अपने थे और फिर स्वयं एक मूर्धन्य कृतिकार ही अपनी कृतित्व-निधि को मेरे समक्ष उंडेल रहा था—मेरे अन्तर का समीक्षक पूरा चौकस न रह सका। मैं उस गहराते रंग में भीगने लगा। ऐसी अभिनव, अपूर्व साहित्यिक यात्रा और मैं उसका सहयात्री! सत्यार्थी जी, बीच-बीच में टोकते जा रहे थे कहाँ उर्दू की जगह हिन्दी शब्द आवेगा तत्सम के स्थान पर तद्भव ज्यादा व्यंजक क्यों रहेगा अथवा क्या इस पूरी पंक्ति को ही उड़ा देना चाहिये? पूर्वापर सम्बन्ध जुड़ा या नहीं? समष्टि प्रभाव की दृष्टि से भी देखते जाना और भी पता नहीं उनकी मुझसे क्या-क्या अपेक्षायें थीं और जहाँ-जहाँ भी मैं कुछ सुझाव दे सका, मुझे ऐसा याद नहीं, उसे उन्होंने सराहा न हो, स्वीकारा न हो और अपेक्षित संशोधन न किया हो। वे दिन में पुष्कर होकर आये थे, बीच-बीच में, बस के सफर के दौरान कहानी के कतिपय अंश पैंसिल से कुछ छितरे हुए से लिखे थे। उन्हें पढ़ने में कठिनाई होने पर वे मुझसे पढ़वाते और फिर प्रवाह आगे बढ़ता। बीच में कुछ देर का व्यवधान आया जब हमें अपनी ठेठ सड़क की उस खुली बैठक से उठकर समीपस्थ दा साहब (हरिभाऊ उपाध्याय) के घर पहुँच जाना पड़ा। बात यों हुई कि जब शकुन्तला जी (दा साहब की ज्येष्ठ पुत्री) को मालूम पड़ा कि सत्यार्थी जी नीचे राजमार्ग

पर ही अपना टिफिन खोल रहे हैं वे तुरन्त आ पहुँचे और मेरे ऊपर कुछ चिढ़े। पर इधर सत्यार्थी जी हैं कि कोई असर ही नहीं बस एक भोले बालक की तरह सहज देखते हुए हमारे साथ चल पड़े और हमारा दूसरा बैठक तब तक साहब के यहाँ जमा। इसी दौरान वहाँ कुछ व्यक्ति और भी आ गये। कमरे का प्रकाश कुछ मन्द था, दूसरा बल्ब लगाया गया और सबको शोर कम करने के लिए आग्रह कर सत्यार्थी जी मुझे लेकर प्रकाश के एक ओर आकर हो गये। पर इस बार की बैठक के शुरू में यह पूछना न भूले कि कहीं मैं उन्हीं बातों से बोर तो नहीं हो रहा हूँ। ईमानदारी की बात, जो उस समय छिपाई आज बता रहा हूँ—कथा या कथानक पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से—मेरे कुछ भी पल्ले नहीं पड़ रहा था। कदाचित् उसका यह कारण रहा हो कि मन में तो सर्वांश सत्यार्थी जी ही स्थित थे। उस सामान्य से स्वर्णिम शुभअवसर के प्रति सतत सजगता भी था। रह रह कर फिर अपने ऊपर गर्व भी हो आता था। स्थल-विशेषों पर वे मेरे सुझावों को बड़े ध्यान, गहराई से सुनते थे और तदनुसार संशोधन कर लेते थे। बीच बीच में यह भी कहते जा रहे थे—'बस अब कहानी पूर्ण हुई ... कहानी का आखिरी दौर है ...।' और वह दौर पूरा हुआ। इस आवृत्ति में उन्होंने कहानी में काफी संशोधन सुधार किये थे। पर मुझे ऐसा लगा कि वे अभी भी शायद पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे—फिर-फिर पढ़ेंगे और मांजेंगे।

फाइल को बाँधते वे बोले—'अभी तक मैं स्वार्थवश तुम्हें बैठाये रहा समय हो तो दूसरी बातें करें।'—ऐसा मधुर स्नेहमय आमन्त्रण! पर उस वेला में औपचारिक रूप से कोई साहित्यिक प्रश्न करना या ऐसी चर्चा छेड़ना अपने वश का न लगा। अधिक से अधिक मैं उन्हीं से सुनना चाहता था। वे स्वयं ही फिर कहने लगे—'पिछले दिनों कुछ विशेष नहीं लिख सका बस एक रचना प्रकाशित हुई। पहले जो कुछ लिखा सन् 46 में प्रसिद्ध फिल्मी गीतकार साहिर लुधियानवी के इन्टरव्यू में आ गया है यह उर्दू में छपा था, उसमें मेरा तब तक का साहित्यिक जीवन शामिल था। अभी कुछ दिनों पहले श्री बलराज 'मेनी' ने उसके बाद के वर्षों का लेखा जोखा अपने इंटरव्यू में लिया था ...' यहीं बीच में टोककर मैंने सुझाव दिया कि दोनों को अगर एक साथ मिलाकर छापा जा सके तो अच्छा रहे। वे भी कुछ सहमत से लगे। अपनी रौ में सरकारी नौकरी के अनुभव सुनाते रहे। पर लगा उन आठ वर्षों से वे विशेष प्रसन्न प्रतीत नहीं थे। कुछ व्यक्तिगत, पारिवारिक जीवन के छींटे भी बीच बीच में बिखेरते जा रहे थे। नयी पुरानी बातों में वे आत्मविभोर से हो गये। इस दौरान उन्हें पहले भी दो एक बार ध्यान दिलाया जा चुका था कि ट्रेन का समय हो गया है अब भोजन कर लेना चाहिये। तब उन्हें उठना पड़ा, पर यह कहते हुए कि आगे उन्हें शीघ्र ही अजमेर आना है, मैं उनसे अवश्य मिलूँ। अभिवादन कर अजीब सी खुमारी में खोया मैं चल पड़ा। पर सुदीर्घकाल के अन्तराल के बाद भी सत्यार्थी जी की उस निरीह निरभिमान छवि को मन ही मन अब भी नमन करने को जी चाहता है। ●

हम तुम्हारे चचिया ससुर

डा शांति भारद्वाज 'राकेश'

अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ की प्रेरणा और सहयोग से प्रदेश के साहित्यिक मंच 'वैचारिकी' ने उदयपुर में पांच दिवसीय 'हिन्दी सेवी शिविर' का आयोजन किया था। संस्था संघ के अध्यक्ष बाबू गंगाशरणसिंह, महामंत्री पं आंजनेय शर्मा और गोपाल परशुराम नेने (हिन्दी मराठी शब्दकोश के निर्माता)—जैसे लोग अहिन्दी भाषा लेखकों को राजस्थान की बंधुत्व-यात्रा पर लाकर और कार्यक्रम की भारी सफलता देखकर 'वैचारिकी' के कार्यकर्त्ता-परिवार के भारी प्रशंसक बन चुके थे। प्रो सिद्धेश्वर प्रसाद, चुन्नालाल मडिया, पुरुषोत्तम शिवराम रेगे, का ना सुब्रह्मण्यम डा सरोजनी महिषी, नन्निना सत्यवी और पी वी नरसिंह राव जैसे लेखक इन यात्रा-दलों के सहभागी बन चुके थे। इन यात्राओं का लक्ष्य था कि हिन्दी प्रदेशों में अहिन्दी भाषा लेखकों का सम्मान हो और इस प्रकार भारतीय भाषा-परिवारों में आत्मीय बंधुत्व पैदा हो सके। तब उदयपुर के समारोह में लेखकों के सार्वजनिक अभिनन्दन समारोह के भाव-विह्वल क्षणों में रामधारीसिंह 'दिनकर' की आँखों में आँसू छलक पड़े थे। प्रखर आलोचक का ना सुब्रह्मण्यम ने कहा था—'भावुक होना मेरे स्वभाव में नहीं है, लेकिन आज मैं कुछ अलग महसूस कर रहा हूँ।'

इसी पृष्ठभूमि की साख पर 'वैचारिकी' को संस्था-संघ ने राष्ट्रीय स्तर के हिन्दी सेवी शिविर के आयोजन का दायित्व सौंपा और मुझे संयोजक नियुक्त किया गया।

शिविर में शायद ही किसी प्रदेश की हिन्दी सेवी संस्था सहभागिता से वंचित रही हो। अहिन्दी भाषी प्रदेशों की भागीदारी के लिए तो विशेष प्रयत्न किए गए थे।

इस भारतीय भाषा-संगम में जिन विशिष्ट लेखकों की भागीदारी के प्रयास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई उनमें एक थे बाबा नागार्जुन जो अपनी विराट् शख्सियत के साथ तीन-तीन भाषाओं (संस्कृत, हिन्दी और मैथिली) का प्रतिनिधित्व करते हैं। चयन सर्वसम्मत और निर्विरोध था। शीघ्र ही उन्हें खोजने और बुलाने के प्रयास शुरू हो गए। उनके दिल्ली में होने की खबर पाकर केन्द्रीय साहित्य अकादमी के तत्कालीन सचिव प्रभाकर माचवे को लिखा। उनके सुझाव पर 'वैचारिकी' के सचिव जगदीश वोरा दिल्ली गए। बाबा मिल तो गए, लेकिन कई दिनों तक 'हां-ना' चलती रही। हम भी थके नहीं लेकिन अंतत एसी सशर्त स्वीकृति ही प्राप्त कर सके— माचवे समय पर याद दिला देगा। दिल्ली में रहा, स्वस्थ और फालतू रहा तो जरूर आऊँगा।'

ऐसी 'हाँ' हमें संतुष्ट तो नहीं कर सकी, लेकिन माचवे जी और गोपालकृष्ण कौल पर जिम्मेदारी सौंपकर हम अन्य कार्यों में व्यस्त हो गए। विश्वसनीयता की रंगत के लिए निमंत्रण-पत्र में उनका नामोल्लेख भी नहीं किया।

ठीक उद्घाटन के दिन देश भर से आए अतिथियों की आवास-व्यवस्था करके भागा भागा घर आया तो बाबा नागार्जुन घर के पूर्व परिचित बुजुर्ग की तरह परिवार से घुल-मिलकर बतिया रहे थे। न मैं उनसे कभी मिला था, न मेरा परिवार। चित्रों की जिस वेशभूषा से परिचय था वह भी खूंटियों पर टंगी थी। बताने पर ही जान पाया कि यह अनजाना अतिथि कौन था?

तब का उदयपुर कुछ और था। स्टेशन से शहर तक तांगे चलते थे। तांगे वाले, लगभग सभी परिचित थे। इतने परिचित कि आने वाला अगर कोई लेखक होता तो उसे पूरे सम्मान से घर लाकर छोड़ते और भाड़ा भी उससे न लेकर मुझसे वसूलते।

इसी प्रक्रिया से बाबा घर आ पहुँचे। बिस्तर बगल में दबाए धड़ाधड़ सीढ़ियाँ भी चढ़ गए। चप्पल उतारी, बिस्तर कमरे में ले जाकर धरा और उपयुक्त स्थान देखकर बैठ भी गए। दो मिनिट साँसों को संयत किया, फिर पहला प्रश्न दागा—

'हमें पहचाना बेटी?'

बेटी चुप। ऐसे जबरन थोपे गए बाप को पहले कभी देखा होता तभी तो पहचानती। पर 'ना' भी कैसे कहे? लेखक परिवार के लोग तो आते ही रहते थे। क्या पता कभी।

हो हो हो हो। अरे कैसे पहचानोगी? पहले मिली क्यों नहीं? पहचान लेतीं। लो, अब आज पहचानो। हाँ तो बेटी हम हैं तुम्हारे चचिया ससुर।'

बेटी ने सहमति में सिर हिला दिया। और करती भी क्या?

अब नाम नहीं पूछोगी?'

फिर वही मौन।

नाम है हमारा वैद्यनाथ मिश्र (मिसर)। लेकिन मिसर-विसर तो कब का छोड़ बैठे। नागार्जुन कभी सुना पढ़ा है?'

अब रहस्य की परत खुली तो पत्नी निहाल हो गई। इतना विराट व्यक्तित्व कितने सहज रूप से इतना निकट आ गया। जो लम्बी खोज के बाद भी मिल जाय तो लोग धन्य हो जायें। यह सुअवसर तो कल्पना से परे था।

पत्नी से ही यह जानकारी मिली। चरण-स्पर्श करने लगा तो बोले— यह सब छोड़ो। विनायक स्थापना (उद्घाटन) तक तुम्हें फुरसत कहाँ? चाय पियो और भागो। मेरे लिए किसी को भी भेज देना। शहर में नया हूँ ना, इसलिए। फिर लम्बी बातें करेंगे।

'आपने सच कहा। मुझे भागना ही पड़ेगा।'

उन्हें लाने ले जाने की व्यवस्था हो गई। शिविर में सबके बीच रहने की इच्छा जाना तो उत्तर था—'अब यहीं रहूँगा। कृष्णा बिटिया (पत्नी) के पास। चचिया ससुर जो हूँ।'

दूसरे दिन उनके लिए टैक्सी का जुगाड़ करने लगा तो बोले— अरे नहीं। बहुत पैसे लगते हैं। फासला (भूपालपुरा से भण्डारी दर्शक मण्डप) तो बहुत थोड़ा है। वाहन आवश्यक नहीं है। कोई ऐसा भेजो जो पैदल साथ लेकर मार्ग का भूगोल समझा दे। फिर छुट्टी।'

मैंने भी वैसा ही किया। बड़े आयोजन के अनिश्चित व्यय-भार का तनाव तो था ही।

फिर बाबा स्वेच्छा से आते-जाते रहे। सब को आतिथ्य से निश्चिन्त कर दिया। लेखकों के बीच वह अकेले रहे भी नहीं। परिवार पूरी तरह पटा ही लिया था। समापन तक मैं मात्र आंशिक औपचारिकताएँ ही पूरी करता रहा। उनके लिए वह आवश्यक भी नहीं था।

जब फुरसत मिली और आयोजन से मुक्त हुआ तो देखा कि उन्हें उदयपुर छोड़ने की कोई जल्दी नहीं थी। बोले—'अब हमारा एक काम पहले करो। हमें भानुकुमार शास्त्री (भाजपा की अग्रिम पंक्ति के कार्यकर्त्ता जो आज राजस्थान खादी बोर्ड के अध्यक्ष हैं) से मिलना है। हमारे घनिष्ट मित्र हैं।'

शास्त्री जी मुझ पर कृपालु थे, जो आज भी हैं। लेकिन मेरा चौंकना स्वाभाविक था। जनवादी सोच के प्रखर और अक्खड़ प्रवक्ता नागार्जुन और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में संस्कारित भानुकुमार शास्त्री। यह कैसी घनिष्ठता? शास्त्रार्थ पर उतर गए तो मेरे वश में क्या था?

'सोचते क्या हो? अरे वह हमसे मिलकर प्रसन्न होंगे।'

और सच ही वह आत्मीय मिलन मुझे अभिभूत कर गया। मिले तो छूटने का नाम ही नहीं ले रहे थे। अनेक पुराने संदर्भ, और ठहाके। शास्त्री जी के कथनानुसार बाबा को उदयपुर बुलाकर मैंने उन पर भी उपकार किया था।

देर रात को सोने से पहले बोले—

अब अपनी कहो। क्या लिखते लिखाते हो?'

जो कुछ लिखता था उसे सुनाने में तो डर रहा था। हाँ, हाल ही में लिखे 'परीक्षित खण्डकाव्य के कुछ अंश सुनाकर मार्गदर्शन की इच्छा थी। दिनकर जी थोड़ा सुन चुके थे और पीठ थपथपा चुके थे। भूमिका का भी आश्वासन था।

संक्षिप्त सी भूमिका देकर मैंने 'परीक्षित की पाण्डुलिपि प्रस्तुत कर दी।

पढ़ूगा नहीं। ऐसी चार्जे सुनने पर सही पकड़ में आती हैं। पढ़ोगे तुम। सुनूगा मैं।

मैंने शुरू कर दिया। चार छ पक्तिया सुनकर बोले—'कलम हाथ में ले लो। यह पक्तिया अडरलाइन कर दो।'

फिर वही क्रम। सुनते-सुनते रोक देते और पक्तिया अडरलाइन करवाते। पाच-छ बार ऐसा करके निर्णायक व्यवस्था दे दी—

यह तो अडरलाइन ही अडरलाइन है यार। कलम बन्द करो और पढ़ते रहो।'

उस रात भरपूर आशीष देते हुए बाबा ने पूरा परीक्षित' सुना और कह भी दिया— इस पर एक टिप्पणी मैं दूगा।

दिनकर जी भूमिका लिखेंगे, यह उन्हें पहले बता चुका था। यद्यपि व्यस्त और अस्वस्थ रहने से दिनकर जी ने भी सक्षिप्त टिप्पणी भेज कर थपथपा दिया। इन दोनों सक्षिप्त मन्तव्यों को माथे चढ़ाकर ही परीक्षित छपवा लिया। बाबा ने बिना मागे इच्छा पूरी कर दी। कल्पवृक्ष के लिए कुछ ऐसा ही तो कहा जाता है।

लौटती बार पूछा तक नहीं कि मार्ग व्यय एव मानदेय के निमित्त उन्हें क्या अर्पित कर रहा हूँ। वाउचर पर बिना पढ़े हस्ताक्षर कर दिए। कृष्णा बेटी और परिवार को भरपूर आशीष देकर चचिया ससुर ठहाका लगाते विदा हो गए।

लगभग आठ वर्ष बाद एक कवि सम्मेलन में बैंगलोर जा रहा था तो बम्बई की मारवाडी धर्मशाला में अकस्मात् मिल गए। देखते ही खिल उठे। पहला प्रश्न मेरे लिए नहीं था—

कृष्णा बेटी कैसी है ?

मेरे अनेक पत्र अनुत्तरित रहने की शिकायत पर इतना भर कहा—'यह तो होता ही रहता है।'

सच है। उनका अपना परिवार ही इस स्वभाव का सबसे बड़ा साक्षी है, जिसके पास इन प्रश्नों का कोई समाधान नहीं है कि— कहाँ हैं ?' और कब आयेंगे ?'

जगदीश वोरा पश्चिम रेलवे में वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी थे। हिन्दी सप्ताह के लिए बाबा को कोटा लाना चाहते थे। तब मैं भी कोटा लौट आया था। उन्होंने बाबा से मिन्नतें की, लेकिन बेकार गईं—

वहा सर्दी बहुत है। कपड़े ढोने पड़ते हैं। शरीर भी कष्ट पाता है। मौसम बदलने दो।'

थककर लौटते हुए वोरा जी ने अतिम पासा फेंका—

डा शाति भारद्वाज भी कोटा आ बसे हैं। आपको बहुत याद करते हैं।

अरे हमारी कृष्णा बेटी कोटा में है ? तो चलो।

पांच मिनट में ही मौसम बदल गया। बाबा दूसरे दिन कोटा में थे। कृष्णा बेटा के साथ ही तीन दिन रुके। रेलवे के समारोह के अतिरिक्त अन्य निमंत्रण स्वीकार नहीं किए—

'नहीं भाई। थोड़ा विश्राम करने रुका हूं।'

बच्चों के साथ हंसते-बोलते रहे। उन्होंने एस कवि का सान्निध्य पहली बार प्राप्त किया था जिसे वे पाठ्य पुस्तकों में भी पढ़ रहे थे।

उनके सम्बन्ध में लोगों से सुने अनेक प्रसंग याद आ जाते हैं। शायद जगदीश वोरा ने ही कभी बताया था कि साहित्य अकादमी या अन्य किसी माध्यम से नागार्जुन की सोवियत-यात्रा का प्रसंग पक रहा था। प्रभाकर माचवे विशेष प्रयत्नशील थे। तभी एक दिन बाबा का कोई ऐसा प्रेस-वक्तव्य बेहद चर्चित हो गया जो भारत-सोवियत सम्बन्धों पर अनुकूल प्रभाव नहीं छोड़ता था। सरकार भी आखिर सरकार होती है। परिणामस्वरूप बाबा का विलायत गमन प्रारंभ होने से पहले ही समाप्त भी हो गया। माचवे जी पीड़ित थे। झुंझलाकर बोले— ऐसा भी क्या अनर्थ हो रहा था। थोड़े दिन चुप तो रह सकते थे।'

बाबा भी तमक कर बोले—

देख रे माचवे ! हम कालिदास के वंशज हैं। जिस डाल पर बैठते हैं, पहले उसी को काटते हैं।'

कालिदास का यह वंशज अपनी आस्था, अपनी जनोन्मुखता, अपनी पारिवारिकता, अपने वैराग्य, अपने चिन्तन और अपने सृजन के हस्ताक्षर छोड़ता हुआ आगे, और आगे बढ़ता ही चला जा रहा है। चला जा रहा है।

कृष्णा बेटी अपने चचिया ससुर की प्रतीक्षा में कब से बैठी है ! लेकिन रमते जोगी का गन्तव्य कौन जान पाया है ? ●

'अप्रतिम शब्द-शिल्पी श्री रामेश्वर शुक्ल 'अचल' '

सावित्री परमार

मानव स्वभाव का शायद यह एक अमिट गुण है कि वह सदैव स्मृतियों के झरोखों में बैठकर जाने कहा-कहा की यादें बटोरता रहता है। दो क्षण फुर्सत के मिले नहीं कि पुराने कोनों-अतरों में मन बड़ी बेसब्री से सुधिया बीन-बीन कर इच-इच नापने-तोलने लगता है। वर्तमान जब अचानक अतीत हो उठता है, तब अपने किसी भी अतरग मित्र की, किसी भी श्रद्धेय की और किसी भी रिश्ते की छोटी से-छोटी अति साधारण लगने वाली बात भी असाधारण हो उठती है—अविस्मरणीय बन जाती है। जाने यह सब अचेतन में कैसे इतना एकत्रित होता रहता है? मन-मस्तिष्क की मजूषा में विभिन्न रग-रूप-आकारों की सुधियों का विपुल-भण्डार कैसे व्यवस्थित रहता है? कौन झाड़-पौंछ कर इसे सवारता रहता है? जीवन यात्रा क यथार्थ धरातल पर चलते-चलते नियति द्वारा किसी जीवत-मासल हस्ताक्षर को अनायास सदा सदा के लिये काली स्याही से काट दिया जाता है, तभी सुधियों को लपेटे सस्मरणों का कोलाहल मन की समूची परतों को घेर लेता है।

ऐसी ही घोर उदासी भरी अनुभूति उस समय हुई जब आदरणीय अचल' भाई जी के विषय में सुना और पढ़ा कि वह अब नहीं रहे। इतनी जल्दी एक व्यक्ति अपनी सपूर्ण ऊर्जाओं के साथ है से थे हो गया? उनके जीवन से जुड़े सारे प्रसग उनके आत्मीयजनों के लिये पलभर में ही सस्मरण हो उठे।

वैसे भाई जी के पत्र तो लगभग पन्द्रह वर्षों से ही प्राप्त होते रहे थे। मेरे प्रत्येक लेख या मेरी कविताए जैसे ही पढ़ते कि तुरन्त पत्र अवश्य लिखते थे—

अरे तुम क्या चैन से बैठी बैठी लिखती रहती हो कि हमको तुम्हारे शब्द-चित्रण के साथ जगह-जगह भागना दौड़ना पड़ता है। पूरा इतिहास वक्त का काल-खण्ड जीवत करके सामने रख देती हो। लिखती रहो। कलम रखना मत। देखो, मैं हर घड़ी पढ़ता-लिखता रहता हू '

हमेशा पत्र कार्ड' की शक्ल में ही आते थे। बिना सिर बधे खूब बड़े बड़े अनगढ़ शब्दों में। उत्तर में लिखते— तुम कहती हो कि भाई जी! एक एक अक्षर उखाड़-उखाड़ कर पढ़ना पड़ता है आपके पत्र को। क्या फावड़े जैसे अक्षर लिखते हो। कहा से लिखू सुघड़ लेख? और भी उलाहना देते हैं। लिखने से रहा अब मोती-अक्षर मैं खुद भा तो यायावरी तबियत का अल्हड़ औघड़ व्यक्ति रहा हूँ।

बड़े सरल-सहज-सात्विक और प्रेरक होते थे उनके पत्र। 'अचल' भाई जी से मिलने का भी अवसर आखिर मिल ही गया।

हुआ यह कि जयपुर आकाशवाणी ने 'सर्वभाषा काव्य-सम्मेलन' का आयोजन किया था। आने वाले गणमान्य कवियों में अचल भाई जी का नाम भी था। समाचार पत्रों में भी दो-तीन बार यह खबर प्रकाशित हुई। मन बहुत प्रसन्न। सोच-सोचकर निश्चित कि जहां भी भाई जी को ठहराया जायेगा, वहां जाकर मिल लेंगे। एक दिन बाद भाई जी का तार आया कि 'मैं आ रहा हूँ।' ठीक है। यह उन्होंने अपने आने की सूचना दी है, ताकि मैं मिल लूं। बड़ा अच्छा लग रहा था। इतने बड़े सृजनशील, विद्वान्, मनीषी और मर्मस्पर्शी-भाव-प्रवण चरित्रों को बड़े अनूठे ढंग से कथा-कहानियों में गूंथने वाले भाई जी से मिलना कितना गरिमापूर्ण होगा और होगी एक बहुत बड़ी उपलब्धि। अचल भाई स्वयं में एक काल-खण्ड हैं एक इतिहास हैं छायावादी युग के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। भाई जी की अनेक पुस्तकें पढ़ने का सौभाग्य रहा। इन्हीं से जाना कि हिन्दी-साहित्य को आपने लेखन से कितना समृद्ध बनाया है। कवि-सम्मेलन में दो दिन शेष थे।

लेखन से मन कुछ उचटा हुआ सा था इसलिये सोचा कि चलो इधर-उधर बिखरी हुई पुस्तकों को ही ढंग से व्यवस्थित कर लिया जाये। अब जो घर बिखरा कि कबाड़खाना ही हो गया। पुराने-फालतू कागजों के फटे ढेर धूल ही धूल और सब तरफ औंधी-तिरछी फैली पुस्तकें। कि तभी नीचे कुछ व्यक्तियों के बोलने की आवाजें आईं। जाल पर आकर नीचे झांका, तो कोई बोला यह साहब जबलपुर से आये हैं। पता पूछ रहे थे। आप देख लें

अरे हम हैं रामेश्वर शुक्ल किधर हैं सीढ़िया? हमारी आँखें अब घिस-घिसाकर पुरानी हो गई हैं भई।

कि वे ही दोनों सज्जन उन्हें ऊपर ले आये

निर्मल हंसी से भरा हुआ एक चेहरा सामने था

मेरे तो होश गुम बिना सूचना के भाई जी यहां? हे भगवान! उठा-उठा कर पुस्तकों का ढेर कोनों में डाला जो भी कपड़ा हाथ लगा, उससे सब धूल झाड़ी-पोंछी भौंचक्की सी हो गई थी

अरे वाह! बड़ी कमेरिन गृहस्थिन हो रही है। इतनी पुस्तकें! हमको हमारा भोजन मिल गया।'

मैंने उनके चरणों में श्रद्धा से नमन किया। पलंग पर पालथी मार कर सामने बैठे थे वयोवृद्ध प्रखर कवि कितने बड़े कथाकार जितना सौष्ठव है इनका शिल्प-संस्कार से गुंफित गद्य का स्वरूप उतना ही भाव-शिल्प और नवीन ऊर्जा से ओतप्रोत रहता है काव्य-सृजन चुम्बकीय आकर्षण से भरे हुए संस्मरणों का संसार

राजनीति-समाज और समकालीन साहित्यिक—गतिविधियों की गंध से महकता हुआ आपका लेखन एक विशिष्ट-वरिष्ठ साहित्यकार को सामने पाकर बस विह्वल हो हो उठा था मन!

फिर तो तीन दिन तक भाई जी के साथ साहित्यिक चर्चाओं के कई सत्र चले। कई दौर चले काव्य पाठ के भला उन क्षणों की यादें क्या भूली जा सकती हैं?

जिस दिन सर्वभाषा कवि सम्मेलन था, उस दिन गजब की ठण्ड थी। तीखी-सर्द हवाएं सुबह से ही चल रही थीं। शाम उतरते ही और भी तेज हो गईं। भाई जी पूरे दिन रजाई-कम्बल-टोपा और ऊनी शॉल को जकड़े रहे। जैसे-जैसे सम्मेलन में चलने का वक्त पास आ रहा था, वैसे-वैसे भाई जी के चेहरे पर ऐसे घबराहट छाई जा रही थी कि जैसे बर्फीली पहाड़ी पर चढ़ने का कोई आदेश दे रहा हो!

'अब उठिये भी—' लगातार हाकों पर बड़ी कठिनाई से उन्होंने बिस्तर छोड़ा और—

अब हम आ गये हैं अपने पूरे मूड में। चलो, सर्दी क्या करेगी? हम क्या उससे डरते हैं?' अकड़ने का अभिनय किया।

गर्म मोटी पतलून, चौड़े घेरे वाला। इसके नीचे गरम चुस्त पायजामा। गर्म बनियान। आधा स्वेटर। गर्म पूरी आस्तीन की कमीज। फिर लम्बा-चौड़ा पूरी बाहों का स्वेटर। ऊपर शेरवानी टाइप काला सा घुटनों तक झूलता कोट। कंधे पर गर्म बड़ा शॉल। सिर पर हैटनुमा टोपा। गर्दन में लिपटा मफलर। घुटनों तक लम्बी गर्म जुराबों पर डटे जूते। वाह! अचल साहब! खूब पराजित किया सर्दी को देर तक स्वयं भी खूब हंसते-मुस्कराते रहे और कहकहे भी गूंजते रहे।

कवि-सम्मेलन के बाद रात का भोजन कॉमर्स-चैम्बर में था शायद। सर्दी की तेजी को देखकर एक स्थान पर खूब बड़ी कोयले की भट्टी जैसी अंगीठी धधक रही थी। हम भी वहीं बैठ गये। भाईजी गीतों की दुनिया में घूम रहे थे। गोष्ठी में भी उन्होंने सुन्दर गीत सुनाये थे।

खान में देरी थी। कुछ काव्य-रसिक और जुड़ आये थे भाई जी के आसपास। सभी तरफ से यही अनुरोध कि कुछ और सुनायें। मन है कि आपको ज्यादा से ज्यादा सुनें। भाई जी 'मूड' में आ गये थे।

दूर जाने से प्रथम/मुझको जगा दो ओ पुजारी । शक्ति के नव स्रोत भरकर/रख सकूं जीवन प्रवंचित/दो यही वरदान मेरे/युगयुगों के देव संचित /—'क्षण भर का/विश्राम कहां/जब जीवन और मृत्यु का तांता/धावा मारे/आज अचेतन/सागर पंछी उड़ता जाये/

'अचल साहब आपके गीत सौन्दर्य शृंगार स्नेह से भीगे-भागे रहते हैं कृपया ऐसी ही कोई अनुरागी पंक्तियां गुनगुनाइये कुछ आवाजें उठीं इनमें

महिला-स्वर भी ये थोड़ा मनुहार के बाद रस छंद झरने लगे—

'तुममें कितनी मिलती-जुलती/खुले शिशिर की श्याम घटा/

तुमसी नहीं बरसती मुख पर/यह जल की अविराम घटा/'

पूरा वातावरण मधुरिम-मधुरिम हो उठा था।

चार-पांच दिन यों ही वक्त बीत गया था। बहुत सी बातों में जाना कि उन्हें एक प्रकाशक के व्यवहार से बहुत पीड़ा थी। हर बात के अंत में यह कहना नहीं भूलते थे कि 'बताओ, क्या करें ऐसे प्रकाशक का? मेरी कई पाण्डुलिपियां डकार गया। छापना है, कहकर वर्षों निकाल दिये। एक खण्ड-काव्य दिया था, वह भी पड़ा है। लिखता-पढ़ता ही रहता हूँ। पहले कभी शौक रहा होगा, अब तो स्वभाव की लाचारी है।'

जब जाने लगे तो बोले कि—

आगरा होता हुआ जाऊंगा। वहां पुराने रिश्ते हैं। मित्र लोग हैं। वक्त जितना मिल रहा है, उसे हिलमिलकर खर्च करना है अब सबसे मिलने-बतियाने की ललक रहती है न।' बच्चों जैसी मासूमियत से आँखें भरी थीं।

लेकिन ट्रेन में बिछाने को रात का बिस्तर?'

'कैसा बिस्तर? हमेशा सर्दियों में खूब घूमता हूँ साहित्यिक समारोहों में, तो ऐसे ही पूरी पोशाक में लेट जाता हूँ। शॉल ओढ़ लेता हूँ। बस '

फिर भाई जी की 'पूरी पोशाक' के सारगर्भित विश्लेषण पर खूब हंसी होती रही।

और उनसे अंतिम बार मिलने की यादें तो सचमुच ही अविस्मरणीय हो उठीं। राजस्थान साहित्य अकादमी की ओर से राजस्थानी लेखक-सम्मेलन उदयपुर में आयोजित किया गया था। अचल भाई जी को मुख्य अतिथि के रूप में बुलाया गया था।

मैंने उदयपुर पहुंचते ही पहले भाई जी को जाकर प्रणाम किया। वह मुझे कुछ कमजोर और थके थके से लगे। बहुत स्नेह से उसी सरल-सहज स्वभाव से मिले और बिना चाय पिलाये आने नहीं दिया। वह पूरा दिन पत्र-वाचन, समीक्षात्मक टिप्पणियों में व्यस्त रहा।

दूसरे दिन मुझे डॉ पन्ना को और रजनी कुलश्रेष्ठ को बहुत आवश्यक कार्य के लिये कहीं जाना था। वह समय चाय-नाश्ते का था। हम थोड़ी दूर ही पण्डाल से निकल कर हॉल से आगे बढ़े ही थे कि पीछे से अकादमी के सचिव डॉ नन्दवाना जी ने आवाज दी हम लौटे तब वह बोले कि—

दीदी, आप अचल साहब को भी गाड़ी में साथ ले जायें। इन्हें रेडियो-स्टेशन छोड़ दें और लौटते वक्त वहां से साथ ही लेकर आयें। फिर हंस कर बोले कि

अचल साहब कह रहे हैं कि आप शीघ्र ही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर जोरदार लिखें पुस्तकें यह साथ लाये हैं '

'हा, बिलकुल, तुम हमारा लेखन देखकर लिखोगी'—कहते हुए वह हमारे साथ चल दिये। रास्ते भर पन्ना उनसे कुछ-कुछ पूछती रहीं और वह बोलते रहे—

'देखो पन्ना जी, मैंने प्रत्येक विधा में लिखा है। विचारात्मक निबंध भी लिखे हैं। काव्यधारा में भी नये मोड़ दिये हैं। लगभग आधा शती से साहित्य को समर्पित हूं। जी हा, सोलह के करीब कविता-संग्रह, चार खण्ड-काव्य, चार उपन्यास, तीन कहानी-संस्मरण संकलन, दो आलोचनात्मक निबंध-संग्रह आदि और अनेकों फुटकर लेख '

और आ गया रेडियो स्टेशन उन्हें उतार कर हम पन्ना वहां के बड़े कक्ष तक पहुँचा कर आ गईं। बार-बार हसते हुए कह रहे थे कि हमको यहाँ छोड़कर मत चली जाना आप लोग यहीं बैठा रहूँगा बाहर रिकॉर्डिंग कराकर और खास देखिये कि हम जल्दी-जल्दी काम करके इसी चिंता में रहे कि कहीं 'अचल' भाई जी अकेले परेशान न हो रहे हों कि जैसे ही हमारी गाड़ी आकाशवाणी-परिसर में प्रवेश हुई कि वह सामने कमरे में से बेंत के सहारे आते हुए दिखाई दिये। रजनी कुलश्रेष्ठ हस पड़ीं कि यह तो बड़ा ही सुखकर रहा एकदम जादुई

लौटकर खाना-पीना सेमीनार समाप्त सभी को जाना है पैकिंग हो रही है। किसी को रेल से जाना है, तो किसी को बस द्वारा हमको रेलमार्ग से जाना था। ढाई तीन घण्टे हमारे पास में थे। पता लगा कि अचल भाई जी खा पीकर बेहद थककर आराम कर रहे हैं अपने कमरे में, जो नीचे था।

अचानक रजनी कुलश्रेष्ठ को सूझा कि अनूठे काव्य का रचने वाले, स्वानुभूत, जीवन सत्यों की भाव सपदा से पूर्ण प्रेम और सौन्दर्य की मनोरम कविताए लिखने वाले, जीवन की नश्वरता, संसार की क्षण भंगुरता और निराशा के गहन अंधकार से बाहर निकलकर अमरत्व का पथ अपने काव्य में प्रस्फुटित करने वाले चिंतन मनन के गंभीर कवि अचल आ आज उदयपुर में हैं। यह कितना दुर्लभ अवसर है तो क्यों न 'संप्रेषण' कला काव्य-साहित्य की संस्था को यह गौरव मिले कि एक डेढ़ घण्टा इस संस्था के कविगण और कवयित्रिया उन्हें अध्यक्ष बनाकर उनसे कुछ सुनने का लाभ उठा सकें? विचार आना था कि 'संप्रेषण' की भागदौड़ शुरू जो भी आग्रह-विनीतभाव लेकर जाता भाई जी सो रहे हैं। थक गये हैं। हम नहीं उठायेंगे —आदि वाक्य सुनकर आ जाता था। रजनी कुलश्रेष्ठ तुल गईं कि ऐसा सुनहरा मौका उनकी संस्था को कब-कब मिलेगा? मेरे पास आईं कि दीदी, आप उन्हें कैसे भी राजी करलें लेकिन कैसे? वह नीचे की मंजिल में सो रहे हैं। हारे-थके। हम ऊपरी मंजिल पर हैं। चढ़ पायेंगे इतनी सीढ़िया? परन्तु रजनी की जिद के आगे सब व्यर्थ। संप्रेषण के सभी सदस्य आ गये। तुरत फुरत दरी-गद्दे हमारे कमरे में बिछ गये। हम गये और

हर प्राणी की छतरी

डॉ रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

ससार के रहस्यों को समझने के लिए हजारों वर्षों से अनेक प्रयास किए जा रहे हैं। दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान, खगोल विज्ञान आदि के क्षेत्रों में किए गए समस्त अनुसधान एव चितन अभी तक सृष्टि की विचित्रताओं को कितना कम समझ पाए हैं, यह सभी जानते हैं। आज भी मनुष्य ऐसी स्थितियों का सामना करने को विवश है, जिनका कहीं कोई समाधान दिखाई नहीं देता। ऐसी अद्भुत घटनाएँ अचानक हो जाती हैं जिनका कोई कारण वैज्ञानिक सूझ-बूझ के मनुष्य भी नहीं समझ पाते। ये घटनाएँ मनुष्य के अनुभवों का अग बनकर अनेक प्रश्नों का जन्म दे जाती हैं। हम उन प्रश्नों के उत्तर खोजते रह जाते हैं। मेरे जीवन में भी कई ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जो आज भी मेरी स्मृति को झकझोर रही हैं। उन घटनाओं में स कुछ का सम्बन्ध खोजता हुआ मैं निरन्तर इसी उत्तर पर पहुँचा हूँ कि— जाको राखे साइयाँ, मारि सकै ना कोइ।

मैं आज भी नहीं भूल पाता। घनघोर घटाएँ घिर कर बरस रही हैं। सूर्यास्त हुए लगभग एक घटा बीत चुका है। चारों ओर घुप अँधेरा बादलों की गर्जना यमुना नदी का किनारा और घना जगल। मैनपुरा जिले के शिकोहाबाद कस्बे से आगरा जिले की बाह तहसील के बटेश्वर घाट तक एक टूटी-फूटी सड़क की लगभग 20 21 मील की दूरी पार करके मैं पैदल यहा तक आया हूँ। उस समय मेरी उम्र थी 18 वर्ष। बाहर भयानक वातावरण और भीतर खा रही थी घर तक पहुँचने की चिन्ता। वर्षा के उन्माद में घहराती यमुना नदी कैसे पार हो? पुल तो था नहीं, केवल एक नाव का सहारा था, जो उस पार से आकर पहले ही लौट गई थी। मैंने घाट के ठकेदार को भर्राए हुए स्वर में पुकारा। नाव भेजने के लिए अनेक मिन्नतें कीं किन्तु ठेकेदार की विवशता थी। अधकार मे नाव कैसे आती? अब मुझे अपने चारों ओर मृत्यु नजर आने लगी। मैं होश खोने लगा। मेरा समस्त पुरुषार्थ हार चुका था। तभी अचानक पीछे से कुछ लोगों क पैरों की खटपट सुनाई दी। मैं और अधिक भयभीत हो उठा। एक आवाज कानों को चीर गई—'कौन है रे!' सात-आठ आदमी निकट आ चुके थे। मैंने पथराई आँखों से देखा—उनके कधों पर बदूकें थीं। एक बोला—'बोलता क्यों नहीं, कौन है तू?' मेरे मुँह से सहसा उत्तर निकल ही गया— कन्हैयालाल मिश्र का बेटा हूँ!' वह फिर बोला— कौन कन्हैयालाल? सिधावली के पण्डित जी?' मैंने कुछ साहस समेट कर कहा— हाँ! मैं उन्हीं का बात पूरी भी नहीं हुई थी कि अनेक सवालों की झड़ी लग गई। कहाँ गया था? रात में यहाँ अकेला क्या कर रहा है? आदि-आदि।

और फिर समय बर्बाद किए बिना उनमें से एक ने आवाज लगाई। ठेकेदार ने फटपट लालटेनें जलाईं और नाव भेज दी। देखते-देखते मैं उन बन्दूकधारियों के साथ यमुना के उस पार पहुँच गया। फिर वे लोग मुझे गाँव के रास्ते के मोड़ तक पहुँचाते हुए आगे चले गए। बाद में मैं समझ पाया कि वे कौन थे?

घाट से मेरे गाँव का मोड़ जिस रास्ते पर आता है, वहाँ से फिर घनघोर जंगल प्रारंभ हो जाता है। रास्ता भी क्या, एक पगडंडी जो 'भरिकों' और 'करारों' से उठती-गिरती, टेढ़ी मेढ़ी, जंगल को पार करके—मेरे गाँव तक जाती थी। जंगल बहुत घना था, जिसमें ज्यादातर 'रेमजा' और 'बबूल' के पेड़ तथा करील की झाड़ियाँ थीं। इन्हीं झाड़ियों और भरिकों की खोहों में गीदड़, भेड़िया, स्यार आदि जंगली जानवर दिन में छिप रहते थे। गाँव वालों को एक बार एक शेर के मिलने की अफवाह ने भी भयभीत कर दिया था। बिच्छू और साँपों का भी घर था यह जंगल। मैं साहस समेट कर इस जंगल को जल्दी-से-जल्दी पार करके अपने घर पहुँच जाना चाहता था। किन्तु दूरी कम न थी। करीब तीन मील, कहीं दिखती और कहीं छिपती पगडंडी से गुजरना था। मैं अभी तक यह तो भूला ही हुआ था कि लगभग एक मील के बाद ही दो-तीन छोटे बड़े 'खार' आते हैं, जिनमें वर्षा होते ही पानी उमड़ पड़ता है और सर्प की तरह लहराता यमुना तक जाता है।

मैंने हिम्मत से काम लिया और दो छोटे-छोटे 'खारों' को पार कर गया। इनमें अधिक गहराई नहीं थी। वर्षा अब भी हो रही थी। बिजली रह रह कर कौंध जाती थी। पगडंडी कभी किसी 'भरिका' से गुजरती थी और कभी किसी 'करार' पर चढ़कर उस पार नीचे उतर कर सीधी हो जाती थी। मैं उसको पकड़े-पकड़े अब ऐसे 'खार' के किनारे आ पहुँचा, जिसमें एक पैर डालते ही बह जाने की स्थिति लगी। मैंने पगडंडी से हट कर खार के किनारे-किनारे चलने का निश्चय किया। लगभग 25-30 गज आगे बढ़कर मैंने फिर खार में जमा कर पैर रखा। लगा शायद अब पार हो जाऊँगा। लेकिन ऐसा हुआ नहीं बीच में पानी की धार इतनी तेज थी कि मेरे पैर उखड़ गए! मेरे कंधे पर एक झोला था, जो पानी में गिरकर मेरे आगे-आगे कहीं बह गया। मैंने हाथ-पैर मारे और किनारे से आ टकराया। लेकिन किनारा एक ऊँचा उठा करार का था। अतः बहुत कोशिश करने पर भी कहीं टिक न सका। 'दाब' के कुछ अंकुर पकड़ में आए लेकिन वे भी उखड़ गए और मैं धड़ाम से फिर खार में जा गिरा। फिर बहने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि अब घर न पहुँचकर यमुना के पेट में पहुँचूँगा। तभी करार के ऊपर से एक आवाज आई—'क्यों घबरा रहा है? किनारे की ओर फिर हाथ-पैर मार पकड़, आगे पेड़ की जड़।' जाने कैसे, मुझसे वही प्रयास हो गया। पेड़ की जड़ हाथ में आ गई। अब मैं कुछ समतल जमीन पाकर हिम्मत से उठ खड़ा हुआ। जिज्ञासा प्रबल हुई किसने आवाज दी थी। करार की ओर देखा, एक रोशनी टिमटिमाती नजर आई। मैं गिड़गिड़ाया—'कौन हो तुम? मुझे बचालो।' करार के ऊपर से फिर

आवाज आई—'थोड़ा पीछे चल, फिर करार पर चढ़ सकेगा। ऊपर आजा। यहाँ से नीचे उतर कर सीधा रास्ता मिल जाएगा।' मैंने वैसा ही किया। वह रोशनी कुछ दूर तक आगे जाती नजर आई, फिर गायब हो गई। मैंने फिर सहायता के लिए आवाज़ लगाई, लेकिन कोई नहीं बोला। अब मेरे सामने मेरे गाँव का जगला रास्ता था, जिस पर सरपट दौड़ता हुआ मैं गाँव के कछार तक जा पहुँचा। कुछ दूर पर काछियों की झोंपड़ियाँ मिलीं, जो अँधेरे में खोई हुई थीं। मुझे उस पगडंडी पर दिन में कई बार चलने का अवसर पहले भी मिल चुका था। अत अपने परिचित 'मुलू' काछी की झोंपड़ी तक जा पहुँचा। वह एक अलाव की बुझती 'आँच' के सामने बैठा 'चिलम' पी रहा था। जब उसने मुझे पहचाना, तो उसके मुख पर गहरी उदासी और मेरे जीवित बच आने की खुशी की मिश्रित धुंध छा गई, जो मैं देख तो नहीं सका, पर उसकी भर्राई आवाज से समझ जरूर गया।

उसने एक लालटेन जलाई, डंडा हाथ में थामा और मेरे साथ हो लिया। करीब एक मील की चढ़ाई पार करके हम दोनों अपने गाँव पहुँचे। घर का द्वार मेरी बूढ़ी दादी (अमृतादेवी मिश्रा) ने खोला और मेरी दुर्दशा देख कर वे रो पड़ीं। उनकी आँखों के आँसू मुझे आज तक झकझोर रहे हैं। मैं सोचता हूँ, क्या ऐसे भी आँसू हो सकते हैं, जिनमें अपने प्राण-प्यारे पोते के कष्टों की कल्पना का दुख गहरा उठे और उसी में एक ऐसी निर्मल खुशी की लहर भी झाँक रही हो जो उसके जीवित घर आ जाने की स्थिति से उत्पन्न हुई हो।

मुलू को भर्राए कंठ से धन्यवाद देती हुई मेरी दादी माँ ने कहा— बेटा! ऊपर वाला हर प्राणी की छतरी होता है। ●

मेरे मास्टर साहब—डॉ देवराज उपाध्याय

डॉ भवानीलाल भारतीय

आजकल तो प्राथमिक शालाओं के बच्चे भी अपने अध्यापक अध्यापिकाओं को सर और मैडम कह कर पुकारते हैं, किन्तु जिन दिनों की मैं बात कर रहा हूँ उस समय तो हम लोग अपने कॉलेज के प्रोफसरों को भी 'मास्टर साहब' ही कहते थे। मेरे हिन्दी के प्राध्यापक, हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समालोचना के प्रवर्तक तथा हिन्दी के कथा-साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता तथा समीक्षक डा देवराज उपाध्याय जब हमें पत्र लिखते थे तो पत्रान्त में हस्ताक्षर करने से पहले लिखा करते थे—'तुम्हारे ही मास्टर साहब'। उनके इन शब्दों में अपने शिष्य-वर्ग के प्रति उनका असीम प्यार व्यक्त होता था।

मैंने देवराज उपाध्याय का नाम तो उसी समय सुन लिया था जब मैं नवीं या दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था और जोधपुर के नये बसे सरदारपुरा मोहल्ले में अपनी मौसी के यहा रहता था। जसवन्त कॉलेज जोधपुर में अध्ययनरत हम से वरिष्ठ कृष्ण मुरारी माथुर अकसर हमारे यहा आते थे और वे अपने हिन्दी के प्रोफेसर देवराज उपाध्याय की चर्चा करते थे। इस वार्तालाप के प्रसग में उपाध्याय जी की विद्वत्ता, अध्यापन कौशल तथा छात्र-वर्ग के प्रति उनके आत्मीय व्यवहार की तो चर्चा रहती ही थी, एक मनोरजक बात यह भी ज्ञात हुई कि जसवन्त कॉलेज का यह लोकप्रिय अध्यापक श्रवण-शक्ति-विहीन है, बहरा है। लड़के अपनी बात उन तक पहुँचाने के लिए उनके कान के पास जाकर जब जोर से बोलते हैं तब वे उनकी बात सुन और समझ पाते हैं।

1945 में हाई स्कूल की परीक्षा पास कर जब मैंने कॉलेज में प्रवेश लिया तो उपाध्याय जी के दर्शन ही नहीं हुए, उनसे हिन्दी पढ़ने का भी मौका मिला। उन दिनों इस कॉलेज में हिन्दी के दो व्याख्याता थे—श्री सोमनाथ गुप्त और श्री देवराज उपाध्याय। गुप्त जी वरिष्ठ थे, किन्तु छात्रों में उपाध्याय जी की लोकप्रियता कल्पनातीत थी। नियम यह था कि प्रथम वर्ष के जिस बैच को जो अध्यापक हिन्दी पढ़ायेगा, वही उस बैच को द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ष तक भी पढ़ाता रहेगा। नव प्रवेश पाने वाले प्रथम वर्ष के छात्रों की यही आकाक्षा रहती थी कि उन्हें पढ़ाने के लिये उपाध्याय जी ही आयें। मैं भी इसे अपना सौभाग्य ही कहूँगा कि 1945 की जुलाई के प्रथम वर्ष के बैच को पढ़ाने का दायित्व देवराज उपाध्याय ने ही लिया। उस समय वे पीएच डी नहीं थे।

1945 से 1949 तक हम उपाध्याय जी से इण्टरमीडियेट और बी ए के दोनों वर्षों में हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं को पढ़ते रहे। उन्होंने हमें नवीन और प्राचीन काव्य पढ़ाया, 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक पढ़ाया, प्रेमचन्द्र का कथा साहित्य तथा एक कहानी

सबलन इस्कीस कहानिया पढ़ाते समय समालोचना की मनोवैज्ञानिक पद्धति से हमें परिचित कराया। बी ए के अन्तिम वर्ष में प रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा सूर, तुलसी और जायसी पर लिखित उनकी श्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति त्रिवेणी' भी पढ़ाई। प्राचीन कवियों में सूर तुलसी, बिहारी और नवीन कवियों में द्विवेदी युग तथा छायावादी युग के कवियों के अध्यापन का श्रेय भी उन्हें ही है। उपाध्याय जी की अध्यापन शैली पर अब पचास वर्ष बाद कुछ लिखना कठिन ही है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि अध्यापन जैसे नीरस कार्य को रोचक, मनोरंजक और ग्राह्य बनाने की कला उन्हें भरपूर आती थी। इसलिए शायद ही कोई विद्यार्थी उनकी क्लास को मिस करता था।

लगभग 60 लड़कों की कक्षा में उपाध्याय जी से मेरा व्यक्तिगत परिचय तो तब हुआ जब किसी मासिक परीक्षा में मैंने हिन्दी में सर्वाधिक अक प्राप्त कर कक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। स्वभाव से सकोची वृत्ति का होने के कारण मैं साहित्य में अपनी अध्ययन-क्षमता और लेखन-कौशल को कभी प्रकट नहीं कर सका था, किन्तु अब मासिक टेस्ट से छात्रों का ध्यान मेरी ओर गया। मेरे उन दिनों के सहपाठियों में स्व सत्यप्रकाश जोशी भी थे, जो कवि के रूप में अपने छात्र-काल से ही ख्याति और लोकप्रियता अर्जित करने लगे थे। उन्होंने भी स्वीकार किया कि जहा तक विषय के रूप में हिन्दी पढ़ने और उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होने का सवाल है भवानीलाल माथुर (कॉलेज के रेकार्ड में मेरा नाम इसी रूप में था) की योग्यता और श्रेष्ठता निर्विवाद है। अब तो उपाध्याय जी मुझे अपने प्रिय छात्रों में मानने लगे। अवशिष्ट टेस्टों और विश्वविद्यालय परीक्षाओं में भी मेरा नाम हिन्दी के उत्तीर्ण छात्रों में सबसे ऊपर रहता था।

उपाध्याय जी के पढ़ाने का तरीका बहुत रोचक था। यद्यपि स्वय बधिर होने के कारण छात्रों के प्रश्नों को सुनने में असमर्थ थे किन्तु वे अपने पाठ को ही इतनी सावधानी से तैयार करके कक्षा में आते थे कि किसी छात्र को उसमें कुछ शका करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। 'रामचरितमानस के उस विख्यात प्रसग की एक बार चर्चा चल पड़ी, जहा ग्रामवधुए सीता से बनवासी राम और लक्ष्मण का परिचय पूछती हैं। यहा तुलसी ने लिखा है—

कोटि मनोज लजावन हारे।
सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे।।

इसी सन्दर्भ में आगे सीता लक्ष्मण का परिचय देती है—

सहज सुभाय सुभग तनु गोरे।
नाम लखन लघु देवर मोरे।।

किन्तु अपने स्वामी राम का नामोल्लेखपूर्वक परिचय देने में उन्हें नारी-सुलभ सकोच आ घेरता है। उस समय सीता ने मात्र सकेत से ही उन्हें अपना पति बताया था।

सजन मजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि।।

सीता के इस प्रणयजन्य शील, सकोच और लज्जा से ग्रामवधुओं का हर्ष एव पुलकयुक्त प्रसन्नता अनुभव करना स्वाभाविक हा था।

इस सारे प्रसग की मनोवैज्ञानिकता को भला भाँति समझाने के पश्चात् उपाध्याय जी बोल पड़े— सीता तो त्रेतायुगीन नारी थी। यदि आज की सीता होती तो राम का परिचय इस प्रकार करातो—Meet Mr Rama my beloved husband उनकी इस उक्ति को सुनते ही कक्षा के छात्र हँसते हँसते लोटपोट हो गये।

मैंने 1949 में बी ए उत्तीर्ण कर अध्यापक का व्यवसाय अगीकार कर लिया। जब मैं 1954 में सरदारपुरा (जोधपुर) में आकर रहने लगा तो उपाध्याय जी से और अधिक निकट का सम्पर्क हुआ। तब तक तो मैं उनका विद्यार्थी ही था, किन्तु अब मैं उनका एक आत्मीय परिजन जैसा बन गया। उन दिनों उपाध्याय जी 'हिन्दी कथा साहित्य में मनोविज्ञान' विषय लेकर पीएच डी की तैयारी कर रहे थे। उनके निर्देशक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डा लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय थे। उनके शोध ग्रन्थ को निर्माणावस्था में ही मैंने पूरा पढ़ लिया था। उपाध्याय जी की भांति मेरी भी कथा (उपन्यास और कहानी) साहित्य में प्रगाढ़ रुचि थी और मैं हिन्दी कथा-साहित्य के नवीनतम प्रकाशनों से परिचित रहने का यत्न करता था।

राजस्थान में आने से पहले उपाध्याय जी ने देश की आजादी की लड़ाई में भी भाग लिया था अत बिहार के प्राय सभी राष्ट्रीय नेताओं से उनका आत्मीय सम्बन्ध था। जब 1955 में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद अपनी सरकारी यात्रा पर जोधपुर आये, तो इस नगर के नागरिकों ने विस्मयान्वित होकर देखा कि भारत के राष्ट्रपति की कार के ठीक पीछे श्रीमती वसुमती उपाध्याय अपने पति के साथ अपनी मोटर में विराजमान् हैं और स्वय ड्राइव कर रही हैं। श्रीमती उपाध्याय ने कार खरीद ली किन्तु हमारे मास्टर साहब तो साइकिल पर ही कॉलेज जाते थे। जब उनका जयपुर स्थानान्तरण हो गया तो जब कभी वे जोधपुर आते और उन्हें रात को जयपुर के लिये गाड़ी लेनी होती तो स्टेशन तक कार में जाने की जरूरत महसूस करते। तब मुझे कहते, भवानीमल, जरा अपनी 'भाई दीदी' से कहो ना कि हमें स्टेशन तक छोड आये। यह सुनकर श्रीमती उपाध्याय अपने ड्राईवर को आदेश देतीं कि वह 'बाबू जी' को स्टेशन पहुँचा दे। श्रीमती उपाध्याय में आभिजात्य जीवन की गरिमा थी तो उपाध्याय जी में अध्यापक के जीवन की सरलता और आडम्बरहीनता। बात यह थी कि राजेन्द्र बाबू उपाध्याय जी को स्वप्रान्त-वासी होने के कारण तो जानते ही थे, किन्तु महामहोपाध्याय प रामावतार शर्मा के जामाता होने के कारण उनके प्रति विशेष सम्मान भाव भी रखते थे। इसी प्रकार बाबू जगजीवनराम, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, कवि दिनकर भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र माधव रामवृक्ष बेनपुरी आदि सभी से

उनका सौहार्द भाव था। पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो नलिन विलोचन शर्मा तो उनके साले ही थे, जिनकी अकस्मात् मृत्यु ने उपाध्याय दम्पती को आघात पहुँचाया था।

सरदारपुरा में उपाध्याय जी के निवास रियाज मजिल' के निकट रहने के कारण मेरा फालतू समय उनके सामीप्य में ही व्यतीत होता। उपाध्याय जी अपने पत्र-व्यवहार में प्राय मेरी सहायता लेते। जब वे मुझ से पत्र लिखवाते तो मैं आदतन पत्र का आरम्भ ओम्' लिख कर करता। इस पर उपाध्याय जी बेतहाशा हस पड़ते और अपने बिहारी लहजे में कहते—'आर्यसमाजी हो, ओम् तो लिखोगे ही।'

जोधपुर के आर्यसमाज के उत्सव पर बिहार के प्रसिद्ध आर्यनेता तथा राष्ट्रकर्मी स्वामी अभेदानन्द (पूर्वाश्रम में प वेदव्रत) का आगमन हुआ। उपाध्याय जी ने मुझे कहा कि मैं स्वामी जी को लेकर उनके घर पर आऊ। इस प्रकार बिहार के इन दो विशिष्ट व्यक्तियों का वर्षों बाद पुन मिलन हुआ। प धुरेन्द्र शास्त्री का कार्यक्षेत्र भी बिहार में रहा था, वे भी 1955 में जोधपुर आये, किन्तु किसी कारण से उनकी भेंट उपाध्याय जी से नहीं हुई। जोधपुर में जब जो प्रसिद्ध लेखक या साहित्यकार आता, उपाध्याय जी उसका स्वगृह पर आतिथ्य करते। महापण्डित राहुल साकृत्यायन, प भुवनेश्वर माधव , सेठ गोविन्ददास आदि अनेक महानुभाव उनके अतिथि बने। मुझे स्मरण है कि उनके निवास पर सेठ गोविन्ददास के आगमन पर स्थानीय लेखकों की एक गोष्ठी आयोजित की गई थी। इसमें कुछ लेखक ऐसे भी थे जो राजस्थानी भाषा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को उग्र रूप में प्रदर्शित करत रहते थे। सेठ गोविन्ददास ससद में तथा अन्यत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी के हितों के जाने-माने रक्षक थे। जब राजस्थानी के पक्षधरों ने सेठ जी से भाषा के सवाल को लेकर उलझने का प्रयास किया तो राष्ट्रभाषा के प्रति अनन्य निष्ठा रखने वाले सेठ गोविन्ददास ने स्पष्ट कहा कि यों तो उनके पूर्वज भी राजस्थान के ही थे (वे जैसलमेर से जाकर ही जबलपुर में बस गये थे) किन्तु हमें राष्ट्रहित के लिये सकीर्ण प्रान्तीय भावना को छोडना होगा।

उपाध्याय जी की प्रथम कृति साहित्य की रेखा शीर्षक उनकी निबन्ध कृतियों का एक सग्रह था। कालान्तर में उन्होंने एक विदेशी उपन्यास कार्ल और अन्ना का अनुवाद भी किया। उनकी शोध कृति हिन्दी का आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान तो अपने विषय की प्रथम रचना ही थी जो साहित्य भवन, प्रयाग से छपी। पाश्चात्य समीक्षा पद्धति पर उनकी पुस्तक 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ ही था। कालान्तर में जैनेन्द्र तथा रागेय राघव के उपन्यासों की विस्तृत समीक्षा के साथ-साथ उन्होंने कथा-साहित्य और मनोविज्ञान के नाना पहलुओं पर अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे।

1949 में राजस्थान राज्य के बनने पर उपाध्याय जी के जोधपुर से अन्यत्र जाने की सम्भावनायें भी बनीं। श्री मोहनलाल सुखाड़िया (राजस्थान के भूतपूर्व

मुख्यमन्त्री) ने उन्हें राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान का उपनिदेशक बनाया। प्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिन विजय आदरी निदेशक थे। किन्तु उपाध्याय जी मूलत शिक्षक थे, अत वे शीघ्र ही महाराजा कालेज, जयपुर में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर आ गये। राजस्थान के लोक सेवा आयोग के समक्ष यदा-कदा साक्षात्कार हेतु मुझे जयपुर जाना पड़ता था। मैं ठहरता तो आर्य समाज में ही, किन्तु उपाध्याय जी से भेंट तो अवश्यम्भावी ही थी। उस समय वे अपने यहा भोजन करने का आमन्त्रण दिये बिना नहीं रहते। बिहारी लहजे में कहते— हमारे घर पर जूठन कब गिराइयेगा ?'

उदयपुर विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वे वहाँ रीडर बन कर चले गये। किन्तु उससे पहले वे अजमेर गवर्नमेन्ट कालेज में भी विभागाध्यक्ष के रूप में रहे। उन्होंने एक साहित्य गोष्ठी आयोजित की, जिसमें प्रो नन्ददुलारे वाजपेयी प्रमुख वक्ता के रूप में आमन्त्रित किये गये। उपाध्याय जी ने मुझे वाजपेयी जी को पुष्कर घुमा लाने का दायित्व सौंपा और इस प्रकार हिन्दी के उस वरिष्ठ अध्यापक तथा समीक्षक के सान्निध्य में कुछ घण्टे बिताने का अलभ्य अवसर मुझे मिला।

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है कि उपाध्याय जी अपनी शिष्य-मण्डली में अत्यधिक लोकप्रिय थे। आश्चर्य तो इस बात का था कि उनका आदर ऐसे छात्र भी करते थे जिन्हें हिन्दी विषय लेकर प्रत्यक्षतया उनका विद्यार्थी बनने का अवसर नहीं मिला था। जसवन्त कालेज, जोधपुर के पुराने छात्र, जिनमें से अनेक आगे चलकर राजनीति एव प्रशासन में आगे आये, उपाध्याय जी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा एव सम्मान का भाव रखते थे। सर्वश्री स्व मथुरादास माथुर स्व नाथूराम मिर्धा, श्री रामनिवास मिर्धा, श्री परसराम मदेरणा (राजस्थान के भूतपूर्व मन्त्री), श्री खेतसिह राठौड़ (राजस्थान के भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री), प्रो एम जी के मेनन आदि के नाम इस प्रसग में लिये जा सकते हैं।

उपाध्याय जी की साहित्य सेवा निर्बाध गति से चलती रही। समालोचना की ही भाति वैयक्तिक सस्मरण, आत्म-कथा, यात्रा-वृत्तान्त आदि लिखने में भी उपाध्याय जी की नैसर्गिक प्रतिभा थी। उन्होंने बचपन के दिन' तथा 'यौवन के द्वार' पर शीर्षकों के अन्तर्गत अपनी आत्मकथा लिखी तथा अपनी यात्राओं तथा सस्मरणों को भी लिपिबद्ध किया। यह सारी सामग्री देवराज उपाध्याय ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड में छपी है। उपाध्याय जी की लेखन शैली की एक विशेषता जो पाठक को सहज ही आकृष्ट करती है, वह है उसकी रोचकता। इस रोचकता के लिये वे यत्र-तत्र वैयक्तिक जीवन की घटनाओं, स्फुट प्रसगों तथा सस्मरणों को तो माला में मणियों की भाति पिरोते चलते ही हैं, अपने विशाल स्वाध्याय के कारण सस्कृत, हिन्दी उर्दू, अग्रेजी आदि भाषाओं के शतश प्रासगिक उद्धरणों को भी यत्र-तत्र देने से उनका कथ्य पर्याप्त रोचक बन जाता है। पढ़ाते समय भी वे कभी उर्दू के शेरों को पढ़ते तो कभी सस्कृत सुभाषितों और सूक्तियों से विषय को सरस और ग्राह्य बना देते। उनकी कक्षा में बोर होने की तो कल्पना करना भी अशक्य था।

उपाध्याय जी का जीवन सम्पूर्णतया स्वभाषा और स्वसाहित्य के लिये ही समर्पित था। अपनी बधिरता को भी वे दैवी वरदान मानते थे। मुझ से प्राय कहते—भवानीमल तुम जानते हो, बहरा होने का क्या फायदा है ? अब मैं दुनिया की आलतू-फालतू बातों को सुनता ही नहीं। मुझ से तो काम की बात ही कहनी होगी, क्योंकि कहने वाले को अपनी बात परिश्रम पूर्वक कागज पर लिखना होगा अत उसमें तो व्यर्थ की बातों की गुंजाइश ही कहां रहेगा।' उपाध्याय जी अपने पास कागजों का एक पैड और उससे बंधा पैंसिल रखते थे। जो आदमी उनसे बात करना चाहता, उसके आगे वे पैन और पैड कर देते। यात्राओं में अपने किसी शिष्य को अपने साथ रखते जो उन्हें लिख लिख कर सारी बातें बताता। उनकी बधिरता के कारण अनेक रोचक स्थितियां बन जातीं। एक बार जोधपुर में वे रात को बहुत जल्दी उठ गये। समय का ध्यान नहीं रहा और यह सोच कर कि सवेरा होने ही वाला है, घूमने निकल गये। उस समय रात के दो या तीन बजे होंगे। गश्त लगाते हुए पुलिस के सिपाही ने उन्हें टोका। बहरे होने के कारण वे कुछ समझ ही नहीं सके। सिपाही ने और कड़े स्वर में कुछ कहा और अन्तत उन्हें अपने साथ थाने ले गया और बैठा दिया। ये चुपचाप बैठे रहे। सवेरा होने पर जब थानेदार अपनी ड्यूटी पर आया (यह भी उपाध्याय जी का शिष्य रह चुका था) तो देखा कि मास्टर साहब को थाने में ला कर बिठाया गया है। उसने आश्चर्यपूर्वक लिख कर पूछा—मास्टर साहब, आप यहां कैसे ? इन्होंने सारी गाथा सुनाई तो पुलिस अधिकारी ने अधीनस्थ संतरी को कहा कि वह उनके गुरु जी को ही पकड़ कर ले आया है। सारा प्रसंग ही हास्योत्पादक बन गया।

उदयपुर विश्वविद्यालय से अवकाश लेकर उपाध्याय जी अपने बिहार प्रान्त में चले गये। वे अब आरा में रहते थे किन्तु उनका मन तो जोधपुर, जयपुर, अजमेर तथा उदयपुर जैसे नगरों में अटका रहता। उनके सहस्रों छात्र मित्र और स्नेही इसी प्रान्त में थे, अत राजस्थान का स्मरण आना स्वाभाविक ही था। उनका एक पुत्र प्राणचन्द उपाध्याय जब राजकीय कॉलेज, अजमेर में वाणिज्य के प्रवक्ता के रूप में आया तो उपाध्याय जी को पुन राजस्थान आने की प्रेरणा मिली। किन्तु वे अपनी सन्तान से भी अधिक अपने शिष्यों का विश्वास करते थे। तुरन्त उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि वे अजमेर आना तो चाहते हैं किन्तु बाबू (उनका पुत्र) के घर नहीं रहेंगे। यदि मैं उनके भोजन, निवास आदि का जिम्मा लूं तो वे अवश्य ही आयेंगे। वर्षों बाद अपने मास्टर साहब को देखने और उनकी सेवा का ऐसा अवसर मेरे लिये तो सर्वथा स्पृहणीय ही था। मैंने उन्हें निस्संकोच आने के लिये लिख दिया। वे आये और मैंने उनके निवास की व्यवस्था दयानन्द आश्रम के अतिथि कक्ष में कर दी। भोजन वे मेरे यहां करते या वैदिक मन्त्रालय का चपरासी उन्हें वहीं भोजन दे आता। गवर्नमेन्ट कॉलेज के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में मैंने उनका हिन्दी कथा साहित्य पर भाषण भी कराया किन्तु विद्यार्थी काल में उनकी जैसी अभिव्यक्ति-क्षमता को देख चुका था अब उसका अभाव ही पाया। शायद वार्धक्य और अध्यापन से विराम ले लेने के कारण ही ऐसा हुआ हो।

बधिर होने के कारण उपाध्याय जी को कभी राजस्थान लोक-सेवा आयोग ने एक्सपर्ट के रूप में नहीं बुलाया। मुझे वे प्रायः कहते, देखो यदि मैं एक्सपर्ट बन कर बैठता तो तुम्हारे प्रवक्ता पद पर चयन में इतना विलम्ब नहीं होता। यह भी भाग्य की ही बात थी कि वे अपने सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली शिष्यों की भी अपनी बधिरता के कारण ही सहायता नहीं कर सके। जब जोधपुर में श्री नेमीचन्द जैन भावुक के प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से 'अखिल भारतीय कुमार साहित्य परिषद्' का गठन हुआ, तो उपाध्याय जी को उसका अध्यक्ष चुना गया। मारवाड़ राज्य के अनेक ग्रामों एवं कस्बों में परिषद् के अधिवेशन हुए और उपाध्याय जी उनमें सम्मिलित होते रहे। जैतारण, मारवाड़ जंक्शन तथा बालोतरा में सम्पन्न होने वाले अधिवेशनों में भी मैं उनके साथ रहा। कुमार साहित्य परिषद् के माध्यम से उन्होंने नवयुवक साहित्य-सेवियों की एक टोली ही गठित कर दी। इसमें जहां प्रो. गणपतिचन्द्र भण्डारी जैसे राजस्थान के वरिष्ठ कवि, अध्यापक और समाज-सेवी थे तो सर्वश्री मोहनकृष्ण बोहरा, देवीलाल माथुर कमलेश, राजेश तथा और न जाने कितने युवक व प्रौढ़ उपाध्याय जी के व्यक्तित्व के अदम्य आकर्षण से अनुप्राणित होकर साहित्य और समाजसेवा के क्षेत्र में आये। वे अन्तर्भारती अजमेर तथा राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर से भी सक्रिय रूप से जुड़े रहे। साहित्य अकादमी ने तो उनकी स्मृति में एक पुरस्कार देना भी आरम्भ किया है।

अपनी मृत्यु के दो-तीन वर्ष पूर्व वे मेरे कुछ अधिक निकट आ गये। यद्यपि उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिर रहा था, किन्तु वे अपने को पूर्ववत् निरन्तर प्रसन्न रखते थे। खाने-पीने का शौक उन्हें प्रारम्भ से ही था। जब मैं जोधपुर में प्रायः उनके साथ रहता तो मूड आते ही उपाध्याय जी गांधी मैदान में किसी चाय वाले की दूकान पर मुझे ले चलते और मलाई लगे टोस्ट और चाय की फर्माइश करते। उन्हें अण्डे से परहेज नहीं था, किन्तु मेरी आर्यसमाजी प्युरिटन आदतों को ध्यान में रखकर मजाक में कहते, 'आर्यसमाजी हो, अण्डा नहीं खाओगे?'

जब मैं 1957 में लोक सेवा आयोग के द्वारा हिन्दी के वरिष्ठ अध्यापक के रूप में चयनित हुआ तो उपाध्याय जी को मैंने स्वगृह पर भोजन के लिये निमंत्रित किया। वे उस समय अच्छे मूड में थे, कहने लगे—'खीर तो बनवाना ही, पूरी शुद्ध देशी घी में छननी चाहिए। दो चार सब्जियां हों, टमाटर, ककड़ी और प्याज की सलाद हो, रायता तो होना ही चाहिए। आगे तुम्हारी श्रद्धा है।' उनकी इस फर्माइश के अनुकूल ही भोजन बना और मेरी स्वर्गीया माता ने मुझ से हंस कर पूछा-'क्या तेरे मास्टर बिलकुल बहरे हैं?'

उपाध्याय जी ने अपनी एक पुस्तक का समर्पण अपनी स्वर्गगता माता को इन शब्दों में किया था—

'माई, यदि तू आज होती तो मैं इतना अनाथ नहीं होता। तेरा ही बच्चा।'

उपाध्याय जी अपने घर में बच्चा जी के नाम से जाने जाते थे। माई दीदी (श्रीमती वसुमती उपाध्याय) माँ कभी-कभी उन्हें इसी नाम से पुकार लेती, किन्तु हमसे बात करते समय वे उन्हें सदा 'तुम्हारे मास्टर साहब' कह कर सम्बोधित करतीं।

जब 1980 में मेरी नियुक्ति पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ के अध्यक्ष और प्रोफ़ेसर पद पर हुई, तो मैंने उपाध्याय जी को आरा (बिहार) पत्र लिख कर सूचित किया। उन्हें इस समाचार से अपार प्रसन्नता हुई और पत्रोत्तर में उन्होंने लिखा कि तुम तो इस पद के सर्वथा उपयुक्त हो हो। इसी वर्ष उनका स्वास्थ्य और खराब हो गया। चण्डीगढ़ आने पर उन्होंने मुझे पत्र लिखा और पी.जी.आई. में अपना इलाज कराने की बात कही। मैंने उन्हें उत्तर भी दिया, किन्तु अब वे दिल्ली में कुछ दिन रह कर आरा लौट गये और वहीं 8 जुलाई, 1981 को 73 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया। उनके स्वर्गवास का समाचार मुझे तो बहुत बाद में मिला क्योंकि चंडीगढ़ में राजस्थान के दैनिक पत्र दुर्लभ ही थे।

आज उपाध्याय जी इस लोक में नहीं हैं, किन्तु उनके द्वारा लिखी गई तथा भेंट रूप में दी गई कुछ पुस्तकें मेरे पास हैं। इनमें से एक पुस्तक मनोनुवर्ती आख्यान रचना उन्होंने मुझे 25 मई, 1979 को अजमेर में स्वहस्ताक्षर सहित दी थी। इस पर उन्होंने लिखा था—

जन्मान्तर सुहृद् और स्नेही,

डा. भवानीलाल माथुर 'भारतीय' जी को

सादर सप्रेम

देवराज उपाध्याय

इसके साथ ही एक श्लोक लिखा—

शिष्यास्ते बहवस्तात
गुरुसन्तापकारिणः
ते शिष्याः विरलास्तात
गुरुसन्तापहारिणः।।

(अर्थात् ऐसे शिष्य तो बहुत हैं जो गुरुओं की पीड़ाओं को बढ़ाते हैं, किन्तु ऐसे शिष्य तो विरले ही होते हैं जो गुरु के सन्ताप को दूर करते हैं।)

क्या उपाध्याय जी ने मुझे भी ऐसा ही (गुरु संतापहारी) समझा था? शायद समझा हो। अब तो वे नहीं हैं। किससे पूछूँ। चाहे वे किसी लोक में हों, अपने इस अकिंचन शिष्य के अशेष प्रणाम स्वीकार करें। ●

मेवात की धींग धरा

जीवन सिंह

मुझे अपने दादाजी की याद आती है, जो आजीवन गाँव-इलाके के जानवरों का बिना फीस और बिना दवाओं के दाम लिये इलाज करते रहे। गाय, भैंस, बैल, ऊंट, घोड़ा, बकरी आदि सभी नस्लों के स्वभाव और व्यवहार की उनको बहुत सूक्ष्म और गहरी जानकारी थी। वे कभी संस्कृति, संस्कृति का शोर नहीं मचाते थे। उनका सबसे बड़ा धर्म और सबसे बड़ी संस्कृति थी दूसरों के दुख और पीड़ाओं में हाथ बंटाना। मैंने उनको कभी किसी मंदिर में जाकर भजन-पूजन करते नहीं देखा। हमारे गाँव में गोपाल कुण्ड है, बारहों महीने क्या शीत, क्या घाम उसी के एक घाट पर नियमित नहाते थे। नहाने के बाद घाट के एक तरफ बैठकर थोड़ी देर ईश्वर का ध्यान मात्र कर लेते थे। मैंने देखा था कि उनको पूरे गाँव के पशुओं की चिन्ता सताती रहती है। गाँव के ठाकुर थे। पूरा गाँव ही उनको दादाजी कहकर सम्बोधित करता था, इसलिये सभी की खोज-खबर रखना वे अपनी जिम्मेदारी मानते थे। बैठक (चौपाल) पर उन्होंने सभी बिरादरियों के हुक्के रखवा रखे थे और दिन भर चलने वाले तम्बाकू-पानी का पहले से ही पूरा इन्तजाम करवा लेते थे। हम से चिलम भरवाना और हुक्के ताजा कराने का उन्हें अधिकार था ही, किसी को पानी किस तरह पिलाना चाहिये, खाट-चारपाई, ढैला पर किसके सिरहाने बैठना चाहिये और किसके पगांतन, ये ये निर्देश निरन्तर देते रहते थे। घड़ी का उस समय तक रिवाज भी ज्यादा नहीं था और न ही उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी थी, अतः दिन में धूप-छाया से और रात्रि में तारों की स्थिति से समय का बोध कराते थे। बैठक पर आठ-दस ढैले (बड़ी चारपाई) हमेशा रहने चाहिये, इसलिये खलिहान उठ जाने पर बैसाख-जेठ के महीनों में मूँज का बान खुद बाँटते और दूसरों से बँटवाते थे। सभी के काम आने वाली चीजों को सही और दुरुस्त रखना उनकी जीवन-शैली का अभिन्न अंग था। अपनी अधेड़ अवस्था में विधुर हो गये थे, इसलिये पाँच छोटे बच्चों की गृहस्थी के साथ बहुत मुश्किल और दूसरों के सहयोग से दिन काटे थे। नियम के इतने पक्के थे कि क्वांरी लड़कियों के हाथ का बना खाना तक नहीं खाते थे। खुद खाना भी बनाते, खेती और पशुओं की देखभाल भी करते। ठकुराई बहुत पहले ही गाँव के एक दूसरे वैश्य परिवार ने छीन ली थी। अकेले थे, अकेला ही घर था, अतः कुछ नहीं कर सकते थे। फिर भी, अपनी सदाशयता और दूसरों के लिए ही अपना जीवन सौंप देने के कारण गाँव ही नहीं, इलाके तक में पूरा आदर था। इलाके की बड़ी-बड़ी पंचायतों में पंच-चौधरी के रूप में आमंत्रित किये

जाते थे। मैंने अनुभव किया है कि यदि हम दूसरों की चिन्ता करते हैं और उसे आचरण में भी बदलते हैं तो दूसरे भी हमारी उतनी ही चिन्ता करते हैं। जरूरत इस बात की है कि चिन्ताएँ सिद्धान्तजन्य न होकर व्यवहारजन्य हों। हमारे पढ़े-लिखे वर्ग की सामाजिक चिन्ताएँ जितनी सैद्धान्तिक होती हैं, काश, उनमें से बीस फीसदी भी व्यवहार में बदली होती तो आज समाज का पूरा परिदृश्य दूसरे रूप में होता।

अब तक हमें जो इतिहास पढ़ाया जाता रहा है, वह बहुत बड़े लोगों, बहुत बड़ी घटनाओं और राजा-महाराजाओं का इतिहास है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'मेरी जन्मभूमि' निबंध पढ़ते हुए मुझे उनकी यह बात बहुत जँची कि 'इतिहास का साहित्य कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन—मनुष्य के धारावाहिक जीवन—के सारभूत रस का प्रवाह है।' देखा जाय तो इस जीवन के सारभूत रस को प्रवाहित करने वाले व्यक्ति और समुदाय हर गाँव, इलाके में मौजूद हैं, जो आज भी अपने छोटे-छोटे इलाकों की मनुष्यता को रचने का काम कर रहे हैं। सांस्कृतिक इकाई के हिसाब से मेरा गाँव जुरहरा ब्रज और मेवात की संधि पर है। जब कि प्रांतीय दृष्टि से वहां राजस्थान, हरियाणा और उत्तरप्रदेश की रेखाएं थोड़ी-बहुत दूरी पर एक दूसरे से मिलती हैं। इस रूप में ब्रज और मेवात की संस्कृतियाँ तीन प्रांतों और कई जिलों में विभाजित हैं। आदमी की मनुष्यता को जीवित रखती है उसकी संस्कृति। और उसके रचना एवं संवर्द्धन का काम भी संस्कृति ही करती है किन्तु आज वही हमारे जीवन के सबसे निचले पायदान पर है। इस संस्कृति को मैंने उन छोटे-छोटे अनजान लोगों के भावों-विचारों और आचरण में पलते और बढ़ते हुए देखा है, जो विद्वानों की तरह संस्कृति की न तो लम्बी-चौड़ी व्याख्या कर सकते थे और न ही उस पर कोई पोथा रच सकते थे। उन दिनों की बात है, जब बद्रीनाथ-केदारनाथ की यात्रा पर जाने का मतलब था कि लौटकर आ जायें तो अपने भाग्य, न आ पायें तो भी कोई अफसोस नहीं, आखिरी सांसें गंगा-भूमि में लेनी पड़ें तो इससे बड़ा पुण्यलाभ क्या हो सकता है? मेरे दादाजी ऐसे संदर्भों में अक्सर यह दोहा उद्धृत किया करते थे—

गंगा जी कौ न्हाइबौ बिप्रन कौ ब्यौहार।
डूब जाय तौ पार है, पार जाय तौ पार।।

कैसी गहरी आस्था है कि गंगाजी में डूब जाना भी पार जाने के बराबर है। उसी भूमि के तीर्थाटन का कार्यक्रम दादाजी और उनकी उम्र के वृद्ध पुरुषों-महिलाओं ने बनाया था। जब वह दिन आया तो उनको गाजे-बाजे के साथ पूरा गाँव, गाँव की सीमा तक विदा करके आया था। हम सभी उनको अश्रुपूरित विदाई देकर लौट आए थे। उस समय हमारे साथ उनको विदा करने वालों में मेव-मुहल्ले के दादा आसीनखाँ भी थे। उनकी आँखें भी अपने हमउम्र साझेदार, मित्र और बंधु की विदाई के दृश्य से डबडबा आई थीं। दादाजी सकुशल तीर्थाटन करके लगभग तीन माह बाद लौटे थे।

तब वे सभी तीर्थयात्री गाँव के बाहर गोपालकुण्ड पर तब तक ठहरे रहे, जब तक कि पूरा गाँव इकट्ठा होकर उनको गाजे-बाजे के साथ लेने नहीं गया। उनकी अगवानी के लिये उनके केवल हिन्दू दोस्त व संगी-साथी ही नहीं थे बल्कि उनमें अनेक मेव-बंधु-बांधव भी थे। उन्होंने भी अपने सामर्थ्य के अनुसार उनको टोपी-पाग भेंट की थी। उनके सकुशल लौट आने की प्रसन्नता सभी को थी। इसी तरह मुझे याद है कि जब दादा असीनखाँ हज करने को गए थे तो उनको भी मेरे दादाजी गाँव की सीमा तक विदा करने गये थे और जब वे हज करके सकुशल लौटे थे, तो वहाँ की स्मृति-रूप दुशाले लेकर आए थे। एक दुशाला उन्होंने अपने भाई मेरे दादाजी को भी भेंट किया था। कहा था कि यह सौगात है। दादाजी जब तक जीवित रहे, उसे बहुत सहेजकर उन्होंने अपने पास ही रखा था। यद्यपि कुछ लोगों को ये बातें बहुत छोटी लग सकती हैं किन्तु इनमें ही वह जीवनरस प्रवाहित है, जो आज भी मुझे भीतर तक सिक्त कर देता है। सोचता हूँ कि आज क्या हो गया है मेरे गाँव को कि खुशहाली बढ़ रही है, पर मेरे भीतर का हंस बिना पंख के लहूलुहान है। अपने क्षुद्रस्वार्थ के लिए आदमी ऐसी लम्बी-चौड़ी कैदखाने की दीवारें क्यों उठा रहा है कि मनुष्यता को साँस लेने तक को जगह न रहे।

मैंने बड़ों से सुना है कि मेवात में हमारे गाँव के ताज़िये और चालीसा मशहूर रहे हैं। चालीसा तो मैंने नहीं देखे, ताज़िये निकलते खूब देखे हैं। इनको बनाने वाले कारीगर केवल धन से नहीं, पूरा मन लगाकर इनको बनाते हैं, जो दर्शक को आकर्षित कर सकें। अब तो इनकी ऊँचाई भी निश्चित-सी हो गई है किन्तु एक समय इनको ऊँचाई देने की होड़ लगी रहती थी। ताजियों के आगे बजती टामक के तुमुलनाद की घोर से रक्त-प्रवाह में उत्तेजना आए बिना नहीं रहती। यद्यपि यह आदमी के सोच पर निर्भर है कि ऐसे अवसरों का वह क्या तात्पर्य निकालता है। मेरी दृष्टि में ये मनुष्यता के ऐतिहासिक अवसरों की कलात्मक स्मृति है, जिसको हम बार-बार दुहराकर अपनी भावधारा को तीव्र करते रहते हैं। हम चाहें तो इन्हें मेलजोल और विराट् एकता के सुअवसरों का रूप दे सकते हैं और चाहें तो इसका बिलकुल उल्टा भी कर सकते हैं। इतिहास में दोनों ही अवसरों के प्रमाण मिलते हैं—संस्कृति के भी और विकृति के भी। अपने-अपने अहंकार विकृति की ओर ले जाते हैं जबकि सहकार संस्कृति की ओर। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।' मैंने ताजिया की उस संस्कृति को देखा है, जब वह हमारे घर के सामने वाले चौक में आकर रुकता था। मेरे दादाजी पहले से ही तैयारी करते थे कि ताज़िया का जुलूस आएगा तो बैठक पर बूढ़े-बड़ों को बैठने के लिये खाट-पीढ़ियों का पूरा इन्तजाम रहे। पानी का पूरा प्रबंध हो। ताजिया आता था और मुहल्ले की बूढ़ी-बड़ी अपने-अपने बच्चों को उसके नीचे से इस विश्वास के साथ निकालती थीं कि वह किसी महान् आत्मा का स्मारक है, इसके आशीर्वाद से बच्चा अब निरापद है। सोचता हूँ कि कैसा भाव है यह, जहां संकीर्णता

और छुटपन की गन्दी नालियाँ सूख जाती हैं और बहने लगती है मन की शुद्ध-सात्विक जलधारा। दरअसल, संस्कृति इसी का नाम है। वह न किसी इतिहास-घटना में है, न किसी ग्रंथ में, वह कहीं साफ नज़र आती है तो इसी तरह के भावपरिपूर्ण परिदृश्यों में। हमारे घर से ताज़िया के लिए एक रुपया भेंट स्वरूप प्रदान किया जाता था। ताजिया तब तक नहीं उठता था, जब तक कि भेंट का कार्यक्रम सम्पन्न न हो जाए। ये परम्पराएँ किसी शास्त्र-पुराण या कुरान-बाईबिल से निर्देशित नहीं थीं। ये शताब्दियों से एक साथ मिलकर प्रकृति से संघर्ष करते हुए जीवनयापन का एक मानवीय तरीका निकालने से बनीं थीं। यहाँ किताबों से अधिक जीवन पर भरोसा था। आज आदमी जीवन से ज्यादा किताबों पर भरोसा करने लगा है तो सारी बात उलट गई है।

धीरे-धीरे मेरी उमर पक रही है, मैं अपनी आयु के पचासवें पड़ाव पर हूँ। मैं ग्रामीण से शहरी हो रहा हूँ। मेरी जीवनपद्धति और जीवन का संस्कार बदल रहा है। मेरी तुलना में मेरे बच्चे ज्यादा बदल रहे हैं। वैसे बदलाव कोई बुरी बात नहीं, लेकिन वह बदलाव खलता है, जो अपनी अतीत की स्वस्थ समृद्ध-संस्कृति से हाथ खींचने लगता है। जो केवल आज का रहना चाहता है, वह अधूरा है। मैं बीते कल और आज दोनों का एक साथ रहना चाहता हूँ। इसलिए मेरा मन बार-बार गाँव की ओर भागता है, जैसे एक गाय रस्से तुड़ाकर बार-बार अपने खूंटे की ओर भागती है। अपने खूंटे की ओर भागने को चाहे कोई पशुता का चिह्न कहे, लेकिन मुझे ऐसी आत्मीय और किसी एक का होकर रहने की पशुता भी अच्छी लगती है। आदमी पशुओं से भी सीखना चाहता है। संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक है कि आदमी की काक जैसी चेष्टा हो, बगुले जैसा ध्यान हो, कुत्ते जैसी नींद हो—काकचेष्टा, बकोध्यानं, श्वाननिद्रा तथैव च। मैं भी गाय से उसकी सरलता-सौम्यता और खूंटे की ओर भागने की आत्मीयता को सीखना चाहता हूँ। इसीलिए मेरा मन बार-बार अपने गाँव मीरासियों से यह सुनने के लिए भागता है—

निपजै जोधा मरखणा, एक बात सौ बात की।
दिल्ली कांधे ढाल ज्यूं धींग धरा मेवात की।। ●

मोती की माँ

भागीरथ भार्गव

जब से मैंने होश संभाला, उसे अपने घर में आता देखता। बचपन के दिन बीत गए, मैं वयस्क हो गया। वह हमारे घर लगातार आती रही। जब मैंने उसे बचपन में देखा—वह स्वस्थ, सुन्दर व चपल थी। मैं युवा हुआ तब तक वह अधेड़ बन चुकी थी। उसका नाम मुझे कभी मालूम नहीं हो सका। परिवार में सभी लोग दादीजी, माँ और दूसरे सदस्य उसे 'मोती की माँ' कहकर ही पुकारते। धीरे-धीरे मैं यह जान गया था कि घर के लिए, परिवार के लिए 'मोती की माँ' कितनी अपरिहार्य है। घर को संवारने में, स्वच्छ व सुन्दर बनाने में उसका योगदान महत्त्वपूर्ण रहता। उसकी एक दिन की अनुपस्थिति भी घर-भर में बेचैनी भर देती। सब अस्त-व्यस्त हो जाता। शांत घर में अशांति और अव्यवस्था का राज्य छा जाता, सबके चेहरे एक झुंझलाहट से भर जाते। 'मोती की माँ' के जिम्मे जो कुछ था उसे परिवार के दूसरे सदस्यों के लिए उसकी अनुपस्थिति में शेयर करना कठिन होता था।

मोती की माँ अलस्सुबह घर में आकर सभी को जगा देती। वह पहले रामू की बहू थी। उसके जीवन में हँसी-खुशी के कुछ ही दिन बीते थे कि एक दिन रामू को एक काले नाग ने डस लिया था। फिर वह सदा-सदा के लिए कहीं दूर चला गया था। उन दिनों मोती कुछ ही वर्ष का था। मोती की माँ पर तो संकटों का पहाड़ ही टूटा था। किंतु उसने अभूतपूर्व साहस दिखाया और वह जीवन संघर्ष में अकेली चल पड़ी। ससुराल के नाते-रिश्तेदारों ने उसकी कोई सहायता नहीं की। गाँव में रामू के नाम जो ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा था, वह भी नजदीक के भाई-बंद दबा गये। शहर में छोटा-सा एक मकान ज़रूर उसके पास रहा, उसे उसने किसी तरह बचाये रखा। खण्डहरनुमा, टूटे-फूटे उस मकान में वह अपने बेटे मोती के साथ सिमट कर रहने लगी।

वह हमारे घर सुबह-सुबह आती। घर-आँगन बुहारती, धो-धोकर उसे चमकाती, पुरआपे जालों को हटाती, बर्तनों को नई चमक देती और इसी प्रकार घर-गृहस्थी के छोटे-मोटे काम निबटाती। वह मसाले कूट जाती, अनाज साफ कर जाती और फिर दूसरे घर की ओर बढ़ जाती। घर में सभी को सम्मान देती, घर के बड़ों के साथ आदर से बोलती, छोटों को भरपूर स्नेह देती। उसकी स्नेहयुक्त मुस्कान पूरे परिवार के लिए राहत व सुकून से भर देती।

धीरे-धीरे उसकी जवानी ढलने लगी, वह प्रौढ़ा बन गई। किंतु उसकी कार्य-पद्धति व समर्पण भाव में घर के एक-एक सदस्य के प्रति चिन्ता छलकती। वक़्त

गुजरता गया। इस बीच मेरी दादी माँ नहीं रही, उसे सबसे अधिक दुःख हुआ था। वह कई दिनों तक स्वाभाविक आँसू बहाती, शोक में डूबी रही थी।

घर में आते ही उसका पहला सम्बोधन माँजी के लिए होता था। अब दादी माँ के साथ उसका वह सम्बोधन भी कहीं खो गया। अब वह हाँ जी, बहूजी की रट लगाये रहती। बिना 'जी'-कारे के बोलना तो उसे आता ही नहीं था। मैंने उसे सदा साफ-सुथरे कपड़ों में ही देखा। उसकी साड़ी साधारण तो होती, किन्तु उसे अस्वच्छ नहीं कहा जा सकता था। उसके पास निर्मल हँसी थी और स्वच्छ परिधान भी। दादी माँ के सिर में सदा दर्द रहता और मोती की माँ उनके धूप-जैसे उजले धवल केशों में तेल मलती नजर आया करती। अब माँजी नहीं रह गई थीं। किन्तु अब घर की बहूजी के सिर में गंधित तेल मलती रहती। दादी माँ के धूप-से उजले बाल थे तो बहूजी के बालों पर काली घटाएँ छाई रहतीं।

जब घर में किसी नये नन्हें मेहमान के आने की तैयारी होती और वह एक दिन आ जाता तो मोती की माँ की जिम्मेदारियाँ और भी बढ़ जातीं। जच्चा-बच्चा का सारा दायित्व उस पर होता—उन्हें नहलाना, तेल मालिश करना। उसे यह भी अच्छी जानकारी थी कि जच्चा को, उन दिनों क्या और कैसा भोजन दिया जाना चाहिए। जच्चा के भोजन में बादाम, पिश्ता, सोंठ, अजवाइन और शुद्ध घी कितना हो ? जच्चा के लिए विभिन्न व्यंजन कैसे बनते हैं ? वह बताती जाती और फिर वैसा बन जाता। इतना ही नहीं छोटी-मोटी घरेलू दवा-दारू की भी उसे अच्छी जानकारी थी। हर्र की घुट्टी वह बनवाती, महिलाओं की नसों के डिगने पर वह आनन-फानन में ठीक कर देती। महिलाओं के पेट की पीड़ा को वह अपने हाथों के हुनर से ठीक कर देती। ऐसे मामलों में उसकी शोहरत दूर-दूर रहती। उसका स्पर्श जादुई होता।

'मोती की माँ' हमारे घर और कुछ चुने घरों की निरंतर सेवा करती रही। वह चाहती थी, उसकी इच्छा थी कि उसका मोती पढ़-लिखकर लायक बने, एक दिन उसके बुढ़ापे का सहारा बने। मोती निरन्तर वक्त के साथ बढ़ता रहा, दौड़ नहीं सका। पढ़-लिख तो वह नहीं सका। हाँ, एक दिन वयस्क हो गया। उसका बचपन बीता, वह किशोर बना और फिर जवाँ मर्द। सही बात तो यह रही कि जिसके लिए वह पूरे जीवन खटती रही थी—उसके लिए कोई समय नहीं दे पाई थी। मोती की माँ न जाने मेरे घर जैसे कितने घरों को संवार रही थी, कभी अपने घर को संवारने की बात तो दूर से भी देख नहीं पाई थी। मोती स्कूल जाता रहा था, किंतु पढ़ाई के अतिरिक्त वहाँ सबकुछ सीख गया था। अनेक अवगुण उसमें धीरे-धीरे आते गये। मोती की माँ अपने जिजमानों से गुहार करती, कि उसका मोती बारोजगार हो जाये। आखिर वह एक फैक्ट्री में मज़दूर बन गया।

एक दिन मोती के घर भी शहनाई बज उठी। मोती एक कन्या को पत्नी बना लाया। मोती की माँ की खुशी का ठिकाना न था। वह अपनी चाँद-सी बहू की

अगुआनी में ऐसी मस्त हुई कि घर-घर मिठाइयाँ बाँटती घूमी और पहली बार कई दिनों तक स्वस्थ रहने के बावजूद जिजमानों के यहाँ नहीं जा पाई थी।

वक्त गुजरता गया। मोती की माँ दादी बन गई। फिर उसके पोते-पोतियों के आगमन का जो सिलसिला शुरू हुआ तो थमने को ही नहीं आया और यह सब बोझा ढोने को मोती की माँ के कमजोर कंधे ही थे। मोती नशे में डूबा रहता। वह फैक्ट्री से भी गोल रहने लगा था। घर की फाके की-सी स्थिति को मोती की माँ ही संभालती। वह शालीनता, विनम्रता की मूर्ति बनी अपने जिजमानों की अटूट सेवा कर उनकी कृपा पा गृहस्थी को आगे धकेलती। इस कठिन अग्नि-परीक्षा में उतरते हुए—गुजरते हुए मोती की माँ के माथे पर कभी मैंने शिकन नहीं देखी। हाँ, उसके चेहरे की झुर्रियाँ साफ़ नज़र आने लगी थीं। उसके अनेक दाँत गायब हो चुके थे। आँखों पर चश्मा चढ़ गया था। उसकी आँखों पर चढ़ी ऐनक एक डंडी वाली थी, दूसरी डंडी के स्थान पर वह एक डोरी बाँधा करती। अब वह एक टेढ़ी-सी लकड़ी के सहारे चलती। चलते-चलते उसकी साँस फूलने लगती। इस सबके बावजूद उसकी सेवा-चाकरी में कोई अन्तर नहीं आया था। उसकी आवाज में तब भी कुछ ऐसी मोहकता थी कि उसका आना घर भर में, सबमें एक प्रफुल्लता भर देता।

मोती की माँ के जिजमान कहते—अब तुम आराम करो, घर में कमाऊ लड़का है, जवान बहू है—पोते-पोतियाँ हैं। ऐसा परामर्श देने वाले भी उसकी मजबूरी को जानते थे। मोती नाम का कमाऊ बेटा था, किंतु वास्तव में घर को अब भी उसकी माँ चला रही थी। दुःखद स्थिति यह थी कि इस समर्पण भाव व वात्सल्य की मूर्ति बनी उस माँ का कोई सम्मान उसके अपने घर में नहीं रह गया था।

एक दिन मैंने सुना मोती की माँ गंभीर रूप से बीमार है और अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। मैं बचपन से ही उसे देखता आया था, मेरी अपूर्व श्रद्धा उसके लिए थी। उसे देखने मैं उसके घर पहुँच गया। वह कुछ ही दिनों में हड्डियों का ढाँचा रह गई थी। मुझे देखकर उसने उठने का भरसक प्रयत्न किया, किंतु वह ऐसा नहीं कर सकी। हाथ जोड़कर उसने अभिवादन किया। मैंने पूछा—कैसी हो मोती की माँ? वह बोल नहीं पाई थी। कुछ आँसू उसकी आँखों से ढुलक पड़े थे। मैं उदास मन घर लौटा। मैं उसके त्याग, श्रम, सेवा-भावना को याद कर दुःखी होता रहा, दूसरे दिन मोती की माँ चल बसी। आप यकीन मानिए, मैं आज तक उसका वास्तविक नाम नहीं जान सका, वह तो सिर्फ 'मोती की माँ' ही थी।

एक ऐसी श्रमिक महिला सदा के लिए इस संसार से नाता तोड़ गई थी, जो सदा समाज के लिए खटती रही थी। उसने सबको सुख व चैन देकर ऐवजी में समाज का समस्त विष पीने का संकल्प लिया था। 'मोती की माँ' चली गई। संसार ज्यों का त्यों अपनी राह पर चलता रहा। मैं चाहता था, यह चलायमान संसार थमे और एक आदर-युक्त प्रणाम, एक सार्थक अभिवादन 'मोती की माँ' को दे। ●

सिंध नदी के किनारे

डॉ. मदन केवलिया

कई बार लगता है कि ज़िन्दगी हमारे साथ किया गया एक मज़ाक है। समय और परिस्थितियाँ भी वक़्त-बेवक़्त हम से मजाक करती रहती हैं। जीवन घटना प्रधान होने के कारण नित्य नयी घटनाएँ घटती रहती हैं—कुछ हमारे अनुकूल और अधिकतर हमारे प्रतिकूल। तब लगता है कि हम कठपुतलियों की भाँति वक़्त के हाथों नाचने के लिए बने हैं।

मेरा जन्म डेराइस्माइलखां (पाकिस्तान) में हुआ था। सिंध नदी के तट पर बसा यह शहर मेरे जीवन के प्रारम्भिक दस-ग्यारह वर्षों का इतिहास अपने में समेटे हुए है। भारत विभाजन के कुछ माह पूर्व तक मैं वहाँ रहा। बचपन की स्मृतियाँ सदा तरोताज़ा रहती हैं, इसलिए आज करीब 62 वर्ष की आयु में भी उस समय की एक-एक घटना, एक-एक दृश्य आँखों के सामने झूलता रहता है। समय की आरी उसे काट नहीं पायी।

यह घटना तब की है, जब मैं बहुत छोटा था। मेरे घरवाले बताते हैं कि उस वक़्त मैं 4-5 साल का ही था। पर वह घटना मेरे मानस-पटल पर आज भी ज्यों की त्यों अंकित है, जैसे कल की बात हो। कल्पना की आँखों से वे सारे दृश्य इस क्षण देखे जा सकते हैं।

डेराइस्माइलखां (सीमाप्रांत) में बैसाखी का त्योहार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। बच्चे इस त्योहार की प्रतीक्षा बड़ी बेताबी से करते थे, क्योंकि सिंध नदी के किनारे घूमने का अवसर मिलता था, पानी के बड़े-बड़े जहाज़ों व नौकाओं को देखने का मौका मिलता था, खाने-पीने और खिलौने खरीदने का अच्छा अवसर रहता था—कहने का मतलब यह है कि बैसाखी का त्योहार बालकों के लिए विशेष रंगीला और उत्साहवर्द्धक होता था। प्रभात में ही जाने की तैयारियाँ शुरू हो जाती थीं। नये-नये कपड़े पहने जाते थे, खाने-पीने का ढेर सारा सामान साथ में लिया जाता था, जेबखर्च में भी उस समय एक-दो आने की बढ़ोतरी हो जाती थी। यानी मज़े ही मज़े थे।

हम लोग भी मुँह अंधेरे तैयार हो गये। सिंध नदी घर से चार-पाँच मील दूर थी। जाने में वक़्त लगता था किंतु उस मेले में जाने का इतना उत्साह था कि हम जल्दी रवाना होने के लिए शोर करने लगे। लालाजी (पिताश्री हीरालाल), भाभी (माता पार्वतीदेवी), अग्रजा बहन सुन्दर, अग्रज ओम व अनुजा पुष्पा और मैं अपनी गली वालों के संग झूमते हुए रवाना हुए। हम भाई-बहिन एक दूसरे की उंगली पकड़े

हुए थे। बीच-बीच में भाभी की डाँट-फटकार हमें उनके साथ ही चलने को बाध्य कर रही थी।

चारों ओर लोग ही लोग थे। गोया पूरा शहर सिंध के किनारे बसने जा रहा हो। सभी के हाथों में कुछ न कुछ सामान भी था। हम अपनी (बलायांवाली) गली छोड़कर भाटिया बाजार आये तो भीड़ और बढ़ गई। फिर हम लालाजी के निर्देशन में अनजानी गलियों से गुजरने लगे। 'यह खालसा स्कूल है', 'यह वी.बी. स्कूल है', 'यह चर्च मिशन स्कूल है' लालाजी बताते रहे और हम एक दूसरे को धकियाते आगे बढ़ते रहे। सूर्य अपनी रोशनी से हमारा मार्ग-दर्शन करने लगा था और हमारे कदमों में और तेज़ी आ गई। कई बार हम तेज दौड़ भी पड़ते, पर बड़ों के टोकने पर बढ़ते कदम रोक लेते।

विद्वानों ने जीवन की गतिशीलता की ही सराहना की है और स्थिरता को मौत का पर्यायवाची बताया है। बचपन तो गतिशीलता का ही दूसरा नाम होता है। देखते-देखते अस्पताल पीछे छूट गया, पर सिंधुतट अभी तक दूर था। दोनों ओर खड़े पेड़, बीच में साफ़-सुथरी सड़क पर जाती भीड़। आस-पास की हरियाली मन को मोह रही थी और हम उछलते-कूदते बैसाखी का त्योहार मनाने जा रहे थे।

एकाएक दृश्य बदला। पेड़ों की कतारें गायब हो गयीं और सामने धरती-आकाश एकाकार होते नजर आये। हम सिंधु के किनारे पहुँच गये थे। घरवालों के रोकने पर भी हम दौड़ पड़े और सिंध नदी के पास पहुँचकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। चारों ओर फैली गीली रेत पर तम्बू ही तम्बू नज़र आ रहे थे। चारों ओर 'तुमुल कोलाहल' था। पानी और रेत के मिलने से अजीब सी बदबू फैली हुई थी, जिसका अहसास आज भी मेरे नथुने कर सकते हैं। घर वालों के संग हम सिंध नदी के बिलकुल पास आये—और निकट जाने से हमें रोका गया। सिंध नदी एक विशाल सागर का रूप लिये हुए थी जिसका ओर-छोर भी नज़र नहीं आता था। नहाने वाले काफी दूर तक तैर रहे थे, जिनके कारण लहरें चंचल हो रही थीं। बहुत साल बाद 'कामायनी' पढ़ते समय जब 'इधर गरजती सिंधु लहरियां' पढ़ा तो भी सिंध नदी का स्मरण हो आया था।

महिलाओं के लिए अलग तम्बू लगे हुए थे। सिर्फ लाला जी अलग घाट पर चले गये। हम सब ज़नाने तम्बू में प्रवेश कर गये। बच्चे वहाँ जा सकते थे पर भीतर जाते ही हमारा संसार सीमित हो गया। हम बेचैन हो उठे। ओम भैया, मैं और छोटी बहन पुष्पा—हम तीनों बाहर जाने के लिए मचलने लगे। बड़ी बहन सुंदर के साथ भाभी ने हमें तम्बू से बाहर भेज दिया। अग्रजा गली की किसी लड़की से बात करने लगी तो हम नजर बचा कर वहाँ भाग लिये और दूर से आते पानी को रौंदते विशाल जहाज को देखने लगे। पहले उसके मस्तूल दिखाई दिये थे। बाद में हमने जुगराफिया की कक्षा में पढ़ा था कि धरती गोल है, इसका प्रमाण दूर से आने वाला पानी का जहाज है जो एक साथ नहीं दिखाई देता—पहले उसके मस्तूल दिखाई देते हैं फिर पूरा शरीर। बैसाख का सूर्य अब किरणों का पूरा जाल फैला चुका था।

हम लुका-छिपी खेलने लगे। बहिन सुंदर ने हमें भीतर (तम्बू में) चलने को कहा, पर हम नहीं माने। वह शायद भाभी को बुलाने के लिए तम्बू के भीतर गई तो हम दूर खड़े जहाज को देखने के लिए दौड़ पड़े। जहाज लंगर डाल चुका था और लोग उतरने की तैयारी में थे। लहरें बड़ी तेजी से किनारे से टकरा रही थीं। इतना भारी जहाज पानी में कैसे खड़ा है—यह मैं सोचता रहा और काफी देर तक जहाज़ की रौनक देखता रहा।

मुझे आज भी याद है कि जब मेरा ध्यान जहाज से हटा तो ओम भैया व पुष्पा वहां नहीं थे। कोई भी परिचित आस-पास नहीं था। मैं रुआंसा हो गया, पर रोया नहीं। तम्बुओं में भी गया, पर वे एक जैसे थे। भाभी-बहिन कोई भी नजर नहीं आई तो घबराकर इधर-उधर चक्कर काटता रहा। 'लालाजी', 'भाभी' जैसी आवाजें भी लगाई होंगी, पर किसी ने भी मेरी आवाजें नहीं सुनीं। सब लोग अपने में ही व्यस्त थे। मैं रोने लगता तो शायद कोई पूछताछ या पुलिस दफ्तर में ले जाता, पर मैं टुकर-टुकर आने-जाने वालों को देखता रहा। वक़्त गुजरने के साथ-साथ मैं बेहद घबराने लगा। लोग वापस जा रहे थे, पर अभी तक वैसी ही भीड़ थी। प्रत्येक पुरुष-महिला में मैं लालाजी-भाभी के चेहरे को तलाशता रहा।

गर्मी बढ़ने लगी थी। लोगों का टोल वापस जाने को बेताब था, पर भीड़ अब भी कम नहीं हुई थी। इतनी बुद्धि नहीं थी कि लालाजी या माताजी के नाम से एनाउंस करवाता—ऐसी बातें तो कम ही याद आती हैं। अब मुझे बैसाखी का वह मेला बेहद फीका और उबाऊ लगने लगा था।

तभी मैंने एक निर्णय लिया। मुझे रास्ते की थोड़ी-बहुत जानकारी इधर आने से हो गयी थी। मैं हिम्मत करके जाने वालों के पीछे-पीछे चलने लगा। इसमें काफी खतरा था। बाद में जब मैं छठी कक्षा तक वी.बी. स्कूल या उससे पहले खालसा स्कूल में पढ़ने जाने लगा था, तब मुझे स्थिति की गम्भीरता का अहसास हुआ था। वी.बी. (विक्टोरिया भ्रातृ) स्कूल के आगे बहुत सड़कें फंटती थीं।

मैं लोगों का अनुसरण करते हुए चलने लगा। थोड़ी देर पहले जो पेड़ और मार्ग मनभावना लग रहा था, अब वह काटने सा लगा। राह में एक आदमी ने पूछा भी—

'तू कैंदे नाल आएं?' (तू किसके साथ आया है?)

मैं चुप था। उसने फिर पूछा था—'कियां राहें?' (कहां रहता है?)

'बलायां आली गली' मैंने कहा था।

'कैंदा पुत्तर हें?' (किसके बेटे हो?)

'प. हीरालाल शर्मा' मैंने घर में सिखायी बातें उगल दीं।

डेराइस्माइलखां में हम सब शर्मा लगाते थे। वह आदमी शायद मेरे पिताजी को या बलाया वाली गली को नहीं जानता था। इसलिए आगे बढ़ गया।

चर्च मिशन स्कूल से पहले कई सड़कें थीं। सीधा सामने भी लोग जा रहे थे और दाहिनी ओर अधिकतर लोग जा रहे थे। मैं खड़ा हो गया किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा। किन्तु अपने संकोची स्वभाव के कारण किसी से रास्ता नहीं पूछा। अन्तरात्मा की आवाज ने दाहिनी ओर मुड़ने के लिए प्रेरित किया तो आंखें चमक उठीं। वह रास्ता जाना-पहचाना सा लगा, बाईं ओर का भवन वी.बी.स्कूल था, यह बहुत बाद में जाना। चलता रहा, आते समय जिसे खालसा स्कूल बताया गया, उसके आगे पहुँच गया। बड़ी जबरदस्त भीड़ थी, अंदर कीर्तन हो रहा था। तब मुझे क्या पता था कि कक्षा चौथी और पांचवीं इस स्कूल से करूंगा और गुरुद्वारे में 'मत्था टेकने' के साथ गुरुनानक देव की पीयूष वाणी—जपुजी का पाठ भी कक्षा में मैं ही करूंगा। भावी पर इन्सान का वश होता तो यह दुनिया क्या से क्या हो जाती।

खालसा स्कूल तक आता मैं थोड़ा निश्चिंत हुआ था, पर आगे तो गलियों-कूचों की इतनी भरमार थी कि उस स्कूल में पढ़ते समय भी मैं कई बार दूसरी गली में चला जाता था। एक लम्बा-कठिन रास्ता सामने था। उर्दू का अभी तक 'अलिफ़-बे' ही पढ़ना सीख रहा था, वह भी 'सुखधाम स्कूल' में —जो पता नहीं कहां था क्योंकि वहां तो मैं अपने अग्रज ओम के साथ जाया करता था। हिन्दी भाषा से परिचय तो विभाजन के समय बीकानेर में आकर हुआ।

जिधर ज्यादा लोग जाते, मैं उनके पीछे-पीछे चल देता। भाग्य को शायद मुझ पर रहम आ गया था। भूख-प्यास से बेहाल। भाग्य ने मुझे सही गली-कूचों में भटकाया और तभी मेरी आंखें खुशी से चमक उठीं। सामने भाटिया बाज़ार था, जहां मैं कई बार आ चुका था। सुखधाम स्कूल जाने के लिए भी वहां आना पड़ता था। अब आत्मविश्वास द्विगुणित हो गया और मैंने तेज़ी से कदम बढ़ाये। मंज़िले मक़सूद निकट थी।

सिंध की लहरों से गीला ज़रूर था, पर विधिवत् नहाया कहां था? मेरा 'अंगोछा' भी भाभी के पास था। वहां नहाने के बाद खाने का कार्यक्रम था। पिछली रात खाने की तैयारियां की गई थीं। मेरा प्रिय फल-फालसा भी लिया गया था। यह सब सोचकर मन बेचैन हो उठा और भूख ने भी ज़ोर पकड़ा। आशा थी कि सब घरवाले पहले ही पहुँच गये होंगे। उनकी डांट खाने से पहले ही मैं रो उठूंगा—यह बात आज भी याद है।

हमारे मकान के आगे लकड़ी का बड़ा सा तख़्त लगा हुआ था—इसलिए हमारा मकान 'उच्ची थली आला मकान' के नाम से प्रसिद्ध था। अपने नन्हें पांवों से चलकर जब मैं 'उच्ची थली' के निकट पहुँचा तो रोने लगा। रास्ते भर मैं जिस धैर्य को समेटे हुए था, वह अपने मकान के आगे फूट पड़ा। लकड़ी की सीढ़ियों से चढ़कर जब गेट की तरफ़ देखा तो ज़ोर से रो उठा। वहां ताला लगा हुआ था। उधर गुजरने वाले कुछ पड़ोसियों ने अपने घरों में चलने के लिए कहा था, पर मैं दरवाजे के आगे बैठा रहा—हां, आंसू ज़रूर पोंछ लिये।

बचपन, झगड़े-झमेलों की गांठों से गुंथा हुआ नहीं होता, उसका जितना भी संसार होता है, वह विस्तृत होता है, उसके आगे-पीछे जाल भी बिछे हुए नहीं होते, उसकी अपनी संस्कृति होती है, अपने रीति-रिवाज होते हैं। बचपन की खिड़कियों को हाथ से छूआ जा सकता है, क्योंकि उनमें यौवन की दीवारों जैसा खुरदरापन नहीं होता है। बचपन एक सीधा-सरल मार्ग जहां 'नेकु सयानप बांक नहीं'। उस बचपन में ही मुझे यह सब झेलना पड़ा, चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही। मैं उस तख्त (थल्ले) पर बैठकर जग का मुजरा लेने लगा। बच्चों के हाथों में रंग-बिरंगे खिलौने देखकर मन उचट गया। ओम, अनुजा (पुष्पा) ने भी खिलौने लिये होंगे और मैं रह गया।

लम्बे सफ़र की थकान, मन की बेचैनी, आशंका आदि के कारण शरीर शिथिल होने लगा। आंखें बार-बार झपकी लेने लगीं। घरवालों की प्रतीक्षा में आंखें उस मोड़ पर टिकी हुई थीं जो भाटिया बाज़ार से जुड़ता था। बिहारी हलवाई की दुकान कचौड़ियां उतारी जा रही थीं। पता नहीं कब मुझे नींद आयी और मैं उसी थल्ली पर सो गया।

अचानक जैसे तूफ़ान आ गया हो। आंखें खुलीं—सामने घरवाले, गलीवाले और मोहल्ले वाले खड़े थे। घरवाले रो रहे थे। लालाजी की आंखों में आंसू थे, पर बाकी सब तो ज़ोर-जोर से रो रहे थे और मुझे उठाकर बार-बार चूम रहे थे। मैं हैरानी से उनकी ओर देख रहा था। मेरे दिमाग से यह बात ही उतर गई थी कि मैं मेले में—सिंध नदी के किनारे खो गया था और कमसिन होते हुए भी पैदल चलकर ठौर-ठिकाने आ पहुंचा था। अपने-आप, बिना किसी बड़े व्यक्ति को लिये, और शायद बिना किसी से रास्ते पूछे (अंतिम बात मैंने बाद में बताई थी)। पड़ोसियों ने भी बाद में बताया कि सिंध के किनारे तुम्हें न पाकर इन्होंने वहां पुलिस में रिपोर्ट करवाई, सिंध के तट पर भी ढूंढ़ा—उस दिन कुछ लोग डूब भी गये थे, बिना कुछ खाये, रास्तेभर रोते-पीटते, 'सियापा' करते आये थे—इन्हें पक्का यकीन हो गया था कि सिंध नदी की लहरों ने मदन को निगल लिया है। जिसे मृत समझ लिया था, उसे जीवित पाकर वे और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे थे।

और मुझे आज भी वे सारे दृश्य याद हैं। ●

यादें एक महाकवि की

रामनाथ 'कमलाकर'

यादें फूल की तरह होती हैं और पुरानी होने पर इत्र की शक्ल और सुगंध में बदलती जाती हैं। इत्र चाहे जितना पुराना हो उसकी सुगंध की लपट तरो-ताज़ा ही रहती है। दिलो-दिमाग को अजीबो-गरीब मस्ती से महकाती रहती है। गुलाब के फूलों के साथ तो कांटे भी होते हैं, इत्र में ख़ुशबू ही ख़ुशबू होती है, कांटे नहीं।

लगभग अर्द्ध शती पूर्व की यादें मस्तिष्क में अंगड़ाई ले रही हैं। कोटा के नयापुरा थाने में हेड साहब चतुर्वेदी जी के आवास का एक कमरा। नन्द चतुर्वेदी के संयोजन में गुरु पूर्णिमा के दिन आयोजित एक छोटी-सी कवि गोष्ठी! अध्यक्ष के रूप में नन्द के काव्य-गुरु हरनाथ जी का चित्र। माल्यार्पण के पश्चात् सरस्वती-वन्दना। नन्द द्वारा हरनाथ जी का परिचय देते हुए उनके रसीले कवित्त सवैयों का सस्वर पाठ। बाद में सभी उपस्थित कवियों द्वारा क्रमशः कविताएं पढ़ी गईं।

इस प्रकार हरनाथ जी से मेरा अप्रत्यक्ष परिचय हुआ। नन्द बाबू उन दिनों बहुत प्रभावित थे हरनाथ जी से। मुझ पर दोहरा प्रभाव था। गुरु का भी और शिष्य का भी। जैसे कोई अनुशासन-प्रिय छात्र टीचर के प्रति भी आदर भाव रखता है और मॉनिटर के प्रति भी।

उन दिनों कोटा के साहित्य जगत् में ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों का बोलबाला था। नौजवान कवियों में नन्द अग्रणी थे। आर्यसमाज और तत्कालीन कर्ज़न पायली मेमोरियल हाल(वर्तमान महात्मा गांधी भवन) में आयोजित कवि सम्मेलनों में नन्द सर्वाधिक वाहवाही लूटते थे।

मुझे लगता, जब नन्द इतना अच्छा लिखते और पढ़ते हैं तो इनके गुरु कितने महान् होंगे? हाड़ौती का केन्द्र होने के कारण कोटा में बूंदी और झालावाड़ के कवि भी कभी-कभी आते रहते। गिरधर शर्मा नवरत्न जी भी तशरीफ लाते। कभी-कभार हरनाथ जी भी पधारते। राजाशाही के उस युग में आन-बान-शान [illegible]। हरनाथ जी के काव्य-सौष्ठव और सुरीले काव्य पाठ मुझे अधिक [illegible]। कोटा आने पर उनके सम्मान में सम्मेलन आयोजित होते।

गांधी भवन में आयोजित कवि सम्मेलन में जब [illegible] को खड़े हुए तो शुरू में उन्होंने यह शेर पढ़कर समारोह में [illegible] 'नजर [illegible]' आज हैं [illegible] ने नजर से मुलाकात कर ली। रहे दोनों [illegible] सुरीले कंठ से उन्होंने ब्रजभाषा के कई [illegible]

कभी-कभी उनके सानिध्य का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त होता था। वे मेरे घर पर ठहरते थे। साहित्यिक चर्चाएं होती थीं। बुराई का दमन करने के लिए भी मनुष्य को थोड़ा-बहुत बुरा होना पड़ता है। मैंने कहा कांटा निकालने के लिए भी कांटा ज़रूरी है। इस पर उन्होंने तुरन्त छन्द की पंक्ति रचकर सुना दी—'काहू ने कही है सो कहावत सही है यह कंटक निकारबे को कटक ही चाहिए।'

बुजुर्ग ऐसा मानते हैं कि कवि, वैद्य, ज्योतिषी, गुरु कोई हो, उसमें इष्ट का बल जितना अधिक होगा, उतनी ही उसे सिद्धि प्राप्त होगी। हरनाथ जी इष्टवली थे। वे शाक्त थे। मां तारा का इष्ट था उन्हें। वे परम्परावादी रससिद्ध कवि थे। उन्होंने गुरु, सरस्वती, शिव, भैरव, हनुमान, जगदम्बा, राधा, कृष्ण आदि की स्तुति और वन्दना में अनेक भक्ति-भाव पूर्ण छन्दों की रचनाएं की हैं।

कवित्व और आचार्यत्व दोनों ही थे उनमें। रस, अलंकार, छन्द, नायिका भेद, पिंगल आदि में वे पारंगत थे। काव्य के नव रस में उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। वे केशवदास के समान आचार्य और रत्नाकर के समान रससिद्ध कवि थे।

हृदय से तरल-सरल किन्तु आभिजात्य वेश-भूषा और बोल-चाल में राजसी दर्प की झलक। मैंने उन्हें दरबारी शान शौकत में भी देखा है। दो विरोधी दिशाओं में बराबर रखी तलवारों की तरह बांकी मूंछें। लाल-लाल डोरे पड़ी बड़ी-बड़ी आंखें। दोनों भौंहों से थोड़ी ऊपर भस्मी की अर्द्ध चन्द्राकार रेखा और उस पर छोटी-सी लाल बिन्दी। बांका साफा। सोने-चांदी के तमगों से विभूषित जरी की शेरवानी और उसमें से महकती भीनी-भीनी इत्र की ख़ुशबू। दोनों हाथों की अंगुलियों में रत्नजटित सोने की अंगूठियां। कमर में लटकती सुनहरी मूठ वाली मख़मली म्यान की तलवार। चूड़ीदार पाजामा। एक पैर में सोने का कड़ा। ऐसी गरिमामयी छवि, कि देखने वाला देखता ही रह जाये। लगे कि कोई राजा होगा; लेकिन राजा नहीं वह कविराजा थे। झालावाड़ और पन्ना रियासतों के राजकवि थे वह। इन रियासतों के राजाओं ने उन्हें कविराजा, कवीन्द्र, कविभूषण आदि ख़िताबों से विभूषित किया था।

राज्याश्रय प्राप्त कवियों के लिए ख़ुशामदी और चापलूस जैसी दुरुक्तियों का प्रचलन रहा है, किन्तु कवीन्द्र हरनाथ इसके अपवाद थे। एक समय झालावाड़ के राजकुमार की वर्षगांठ पर आयोजित समारोह में कविता पाठ का आयोजन था। समस्या-पूर्तियां सुनाई जा रही थीं। हरनाथ जी से भी काव्य पाठ का अनुरोध किया गया। पहले तो उन्होंने क्षमा मांगते हुए टालने की कोशिश की; किन्तु विशेष फरमाइश होने पर यह कवित्त पढ़ा। समस्या थी—'युवराज को'

सुजन सपूतन को साथी है रहौं सदैव
सुजस बखानत हौं सूर सिरताज को।
चाहक-चकोर गुन गाहक गुनी को गूढ़
सुदृढ़ सनेही सत सुकवि समाज को।

राखत कवीन्द्र 'हरनाथ' है खरो सो एक
हिय में भरोसो ब्रजरानी ब्रजराज को।
काहू सुर राज को न, काहू नर राज को न
काहू महाराज को न काहू युवराज को।

ऐसी बेबाक और स्वाभिमानपूर्ण कविता प्रस्तुत करने पर समारोह में सन्नाटा छा गया। समस्त सामंत और दरबारी लोग चकित और आशंकित थे कि पता नहीं राजा क्या कर गुजरे? किन्तु नरेश राजेन्द्र सिंह स्वयं भी कवि थे। हिन्दी में 'सुधाकर' और उर्दू में 'मख़मूर' उपनाम से कविता भी लिखते थे। राजा कवि ने कविराजा की इस वीर वाणी पर प्रसन्न होकर उन्हें अंक में भर लिया और कहा कि हम सिंहों को इसीलिए पालते हैं जो निडर हों और सत्य का घोष करने वाले हों।

सुधाकर जी के दुःखद देहावसान पर उनके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में हरनाथ जी ने कई कवियों की कविताएं एकत्र कर उन्हें पुस्तकाकार छपवाया। मुद्रण कार्य के लिए वे कोटा आये। किताब छपवा कर जब वे वापस झालावाड़ लौटने लगे तो मैं बस स्टेण्ड पर उन्हें छोड़ने गया। गुरु-शिष्य भाव से भी अधिक हममें मैत्री की भावना प्रगाढ़ प्रतीत होती थी। विदा के समय हम दोनों की ही आँखें तरल होकर छलकने लगीं थीं। मुझ पर उनका बड़ा स्नेह था।

कालान्तर में जनसम्पर्क अधिकारी के रूप में मेरा स्थानान्तरण झालावाड़ हो गया। हरनाथ जी भी मध्यप्रदेश से आये हुए थे। उनके सम्मान में साहित्य गोष्ठी रखी गई। वे कुछ अधिक वृद्ध हो गये थे फिर भी उन्होंने 'नेत्र शतक' से दोहे, 'उधव गोपी संवाद' और 'मायाजाल' से कई कवित्त सवैयों का सस्वर पाठ कर समां बांध दिया।

देश की आज़ादी के बाद राजे-रजवाड़ों का युग समाप्त हो गया। राज्याश्रय नहीं रहा। किन्तु हरनाथ जी भाग्यवान पुरुष थे। उन्हें लोकप्रिय सरकार का भी वरदं-हस्त मिला। तत्कालीन मोहनलाल सुखाड़िया के मुख्यमंत्री काल में जब जनार्दनराय नागर राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष थे, 'हरनाथ ग्रंथावली' का प्रकाशन हुआ। अकादमी के साहित्य सचिव मंगल सक्सेना की भूमिका के साथ उक्त साढ़े आठ सौ पृष्ठ का ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया जिसमें हरनाथ जी का प्रायः सम्पूर्ण कृतित्व संगृहीत है।

कोई कितना ही महान् हो; काल सबसे बलवान् है। मृत्यु पर किसी का वश नहीं चलता। कवीन्द्र हरनाथ भी परलोकगामी हो गये। उनकी कीर्ति और कविता की किताबें ही शेष रह गई? किसी शायर ने कहा भी है—ज़मीं खा गई आसमां कैसे-कैसे?

अंत में, जिस प्रकार गंगा मैया की पूजा भी गंगाजल से ही की जाती है, मैं उन्हीं के शब्दों में अंतिम दिन की मर्मान्तक वेदना प्रगट करने का साहस कर रहा हूँ—

लाल बन गोद पै प्रमोद परिवार पाँउ,
पुहुमि न पैयां परो पालने झुलाने हैं।
फेर गज बाजि रथ वाहन अनेक यान,
यौवन अवस्था चढ़ि चौंक चकराने हैं।
पुनि 'हरनाथ' चढ़ि उमंग अनंग-बान
विद्या बल गर्व धन धाम में भुलाने हैं।
चोप भरी चाह चाव चातुरी सों काहू दिना
ऐसी चढ़ाचढ़ी में चिता पै चढ़ि जाने हैं।

कविवर मुकुल : स्मृतियों की विराट् यात्रा

डा. लक्ष्मीकान्त शर्मा

राजस्थान के लब्धप्रतिष्ठ कवि मेघराज 'मुकुल' नहीं रहे, सहज में इस क्रूर तथ्य पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। गत वर्ष जब मैं उनसे मिला था, तो वे स्मृति खो बैठे थे। भाभी (स्व. मुकुल जी की पत्नी) उनके पलंग के एक ओर मुड्ढे पर बैठी थीं, मेरे अभिवादन करने पर उन्होंने कवि को चेताते हुए कहा था : 'आपने मित्तर ने कोनी ओलखो?' उनके होठों पर एक मुस्कान आई और वे कुछ कहने को उद्यत हुए, पर स्मृति की चिनगारी लड़खड़ा उठी और वे असमर्थता के अहसास में डूब गये। भाभी ने ही बताया था कि वे स्मृति खो बैठे हैं। तब उनके स्वास्थ्य को लेकर संक्षिप्त वार्ता हुई और भाभी चाय के लिए उठकर जाने लगीं। तब मित्रवर चम्पालाल रांका ने उन्हें रोक लिया और कहा कि हम चाय अभी-अभी पीकर आये हैं और उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इससे पूर्व जब दो वर्ष पूर्व उनसे मिलना हुआ था, तब वे अस्वस्थ जरूर थे, पर स्मृतियां सजग थीं। हमारी वार्ता खुलकर हुई थी, उनका विनोदपूर्ण व्यंग्य वार्ता में छलका पड़ता था। एक अन्य सज्जन बैठे हुए थे, जिनसे वे अपनी द्वितीया (डॉ. संतोष मुकुल) को लेकर बहुत देर तक बात करते रहे थे।

चाय और नाश्ता आने पर वे बहुत देर तक विगत जीवन के पृष्ठों को पलटते रहे और अपने बाल्य एवं युवा जीवन की स्मृतियों में खो गये : 'रांका जी, मैं कविता लिखता था और कान्त (इन पंक्तियों का लेखक) उसकी मौखिक समीक्षा किया करता था। ये सदा से ही साहित्य के गंभीर अध्येता रहे हैं, अतः बहुत सी बातों में इनकी समीक्षाओं से मुझे बड़ा लाभ हुआ। जब भी मैं कोई नयी कविता लिखता, तो कान्त को जरूर सुनाता।' यह गौरतलब है कि मुकुल जी प्रारंभिक कक्षाओं में मेरे साथी रहे और अन्तिम कक्षा (एम. ए.) में भी संयोगवश हमारा साथ हो गया। हमारे गुरुदेव प्रो. नरोत्तम दास स्वामी हम पर बहुत प्रसन्न रहते थे। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य से संबंधित बहुत से प्रसंगों में हमारी राय लिया करते थे और उसकी कद्र किया करते थे।

मुकुल जी ने मैट्रिक करके पारिवारिक परिस्थितिवश अध्यापकी स्वीकार कर ली थी। इनके पिता बहुत ही प्रसिद्ध भजनीक और गायक थे, इन्हीं से इन्हें कविताओं के प्रभावी सस्वर पाठ की प्रारंभिक प्रेरणा मिली। माता-पिता की यही मूल्यवान् विरासत आगे चलकर ऐसी पुष्पित-पल्लवित हुई कि मुकुल जी के मोहक कंठ के प्रभावी स्वर अखिल भारतीय मंचों पर गूँजने लगे। उनकी 'सेनाणी' ने राजस्थानी कविता को अ.भा. मंच पर प्रतिष्ठित किया। इस कविता को प्रसिद्ध समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा की

प्रशस्ति भी प्राप्त हुई। शान्तिप्रिय द्विवेदी कविता के शृंगार और शौर्य-समन्वय से अभिभूत हुए। मुझे हवामहल (जयपुर) में हुए कवि-सम्मेलन का स्मरण हो रहा है, जब हिन्दी के वरेण्य कवि डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन', डा. रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि अनेक कवि उपस्थित थे और युवा कवि मुकुल ने उनके बीच 'सेनाणी' सुनाई थी। वनस्थली विद्यापीठ की छात्राएँ भारी संख्या में उपस्थित थीं। वह श्री हीरालाल शास्त्री (राज. के प्रथम मुख्यमंत्री) का जमाना था और स्वर्गीया रतन शास्त्री अपने दल-बल सहित उपस्थित थीं। विद्यापीठ की छात्राओं ने मुकुल जी को कवि-सम्मेलन के उपरान्त घेर लिया था और उनके आॅटोग्राफ्स की मांग परवान पर चढ़ गई थी। राजस्थान के किसी कवि का ऐसा स्वर-सम्मोहन न पहले कभी सुना गया था और न भविष्य में ही ऐसी संभावना थी। मुकुल धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते गये। उन्होंने अध्यापक के रूप में इन्टर, बी.ए., साहित्यरत्न की उपाधियां प्राप्त कर ली थीं और बीकानेर के प्रतिष्ठित सादुल हाई स्कूल में हिन्दी अध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। उन्हें विशेष रूप से समीपस्थ डूँगर कॉलेज में एम.ए. की कक्षाएँ ज्वाइन करने का भी सुयोग मिल गया था। एम. ए. करते ही वे कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। इन सुविधाओं को प्राप्त करवाने में उनके चाचा का महत्वपूर्ण हाथ रहा, वे तब बीकानेर रियासत में अण्डर-सैक्रेटरी थे। रियासतों के राजस्थान-विलय के उपरान्त चाचाश्री राज. सचिवालय में पहुँचे और उन्हीं के प्रयत्नों से प्रो. मुकुल को कला एवं संस्कृति मंत्रालय में संस्कृति-अधिकारी बनाया गया, तब यह शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत ही था।

प्रशासन के दायित्व ने मुकुल जी की सर्जना-शक्ति को कुंठित नहीं किया और वे निरंतर काव्य-सृजन में दत्तचित रहे। पत्र-पत्रिकाओं में सतत रूप से उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रहीं। 'आजकल', 'उत्तरप्रदेश', 'नयी चेतना' आदि में बराबर उनकी कविताएँ छपती रहीं। इसी बीच उनके अनेक काव्य-ग्रंथ अजमेर तथा जयपुर से प्रकाशित हुए। अपने विपुल साहित्य-सृजन (हिन्दी और राजस्थानी) के कारण वे महाकवि के सम्मानास्पद स्थान को प्राप्त कर सके, यद्यपि उन्होंने कोई महाकाव्य नहीं लिखा। बहुत से लोगों के विचार में उनकी 'सेनाणी' का मूल बीज स्व. शिवपूजन सहाय की प्रसिद्ध कहानी 'मुण्डमाल' में अन्तर्निहित है, यद्यपि उसे राजस्थानी परिवेश में नाटकीयता के साथ प्रस्तुत करना कवि की निजी उपलब्धि है। लोरी, कोडमदे, सेनाणी, भूखां सिरताज (राजस्थानी) और नयी चेतना, जय जनता, आधी दुनिया, संघर्ष (हिन्दी) आदि उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं।

1950 में बीकानेर से 'नयी चेतना' (द्विमासिक पत्रिका) प्रकाशित हुई। इसमें मुकुल जी की कविताएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। तब दो कवि अपनी प्रगतिशील चेतना के लिए विशेष रूप से चर्चित रहे : मुकुल और चन्द्रदेव शर्मा। मुकुल की कविताओं में राजस्थानी रंगत रहती और चन्द्रदेव शर्मा अपने व्यंग्य के लिए विशेष

रूप से सराहे जाते। दोनों कवियों में एक मधुर स्पर्धा भी चलती रही। इन पंक्तियों के लेखक के दोनों कवियों से आत्मीय संबंध थे, इनके माध्यम से यह स्पर्धा कभी-कभी इतनी प्रखर हो जाती कि विवाद का विषय बन जाती। मानवीय स्वभाव में ईर्ष्या का पुटपाक है, कविगण इसके अपवाद कैसे हो सकते हैं! दोनों को ही प्रतिभा का अद्भुत वरदान प्राप्त था।

मुकुल आरम्भ से ही प्रगतिशील चेतना के पक्षधर रहे, यद्यपि उनका जन्म सामन्तवाद के प्रबल गढ़ बीकानेर में हुआ था। उस समय के सभी साहित्यकारों में प्रगतिशील चेतना का प्राबल्य था, जिसकी अभिव्यक्ति नयी चेतना, वातायन, लहर जैसी पत्रिकाओं में हुई। मुकुल जी की 'उमंग' (1954) ऐसी कविताओं का प्रतिनिधि संग्रह है। इसमें हिन्दी और राजस्थानी की कविताओं का सम्मिलित समावेश है। राजस्थान का कवि मातृभाषा के रूप में राजस्थानी को अपनाता है और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी में भी साहित्य-सृजन करता है। मुकुल, मनुज, गजानन वर्मा, मरुधर मृदुल, कन्हैयालाल सेठिया, किशोर कल्पनाकांत, हरीश भादानी, चन्द्रप्रकाश देवल, प्रकाश जैन, त्रिलोक गोयल आदि अनेकशः कवि इसी परम्परा के समर्थ संवाहक हैं।

मुकुल जी के काव्य-संग्रहों में अनुगूंज, गांधी जीवन-ज्योति, पथ के पुनीत पाँव, लाडले गीत, सेनाणी री जागी जोत, चणक आदि परिगणित किये जा सकते हैं। प्रशासन ने उन्हें अंग्रेजी भाषा पर भी अधिकार स्थापित करने का सुयोग दिया, इसी के परिणामस्वरूप स्काई लाइन, अहेड ऑफ टाइम जैसे काव्य-संग्रहों का जन्म हुआ। उनका राजस्थानी, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा पर समान अधिकार था। आकाशवाणी और दूरदर्शन से भी वे बराबर जुड़े रहे। कवि सम्मेलनों में बरसों तक उन्होंने राजस्थान का प्रतिनिधित्व किया। राष्ट्रीय मंच से उन्होंने अनेक प्रादेशिक भाषाओं के कवियों के काव्य को हिन्दी में प्रस्तुत किया। वे कविता में नाट्यात्मक गतिशीलता के प्रमुख प्रेरक रहे। उनकी गणना सफलतम मंच-कवियों में की जा सकती है : भरत व्यास, मुकुल, नीरज, सोम ठाकुर, वीरेन्द्र मिश्र, चन्द ही ऐसे नाम हैं, जिन्होंने काव्य-मंच पर हिन्दी को प्रतिष्ठित किया। इन्हीं कारणों से उन्हें सम्मेलन द्वारा साहित्य महामहोपाध्याय की मानद उपाधि प्राप्त हुई।

मुकुल जी के निधन से हमारे साहित्य-जगत् की अपूरणीय क्षति हुई है । वे अन्य प्रदेशों में राजस्थान की अस्मिता एवं वर्चस्व के प्रतीक थे। उन्होंने राजस्थान की शौर्य-गाथाओं को काव्यात्मक कलेवर प्रदान किया, लोकगीतों की धड़कन की अपने काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा की और राजस्थानी मुहावरों को सर्व-संवेद्य बनाया। पाँच-छह दशक की उनकी काव्य-यात्रा निरन्तर विकास की नयी मंजिलें तय करती है। अध्यापक, प्राध्यापक एवं प्रशासक के रूप में उनकी सेवाएँ राजस्थान को मिलीं, यह कम गौरव की बात नहीं। वे मृदुभाषी, आतिथ्य-परायण एवं सहृदय मित्र थे। एक बार ऐसा हुआ कि मैं रास्ते में बस के खराब हो जाने के कारण उनके यहाँ रात्रि के दस बजे

पहुँचा, सब परिजन सो चुके थे। वे जानते थे कि मार्ग में मैं कुछ खाता-पीता नहीं हूँ। बस आनन-फानन में स्वयं ही खिचड़ी बना लाये और मुझे खाने के लिए विवश किया। मैं सोचता था कि एक दिन का उपवास कुछ हानि नहीं करेगा, पर वे कब मानने वाले थे! मुझे खिला-पिला कर ही दम लिया।

प्रायः उनसे कविताएँ सुनने का सुअवसर मिलता। वे मुझे कविताएँ सुनाकर बड़े रसमग्न हो जाते। काव्य-गोष्ठियों का एक निराला ही अन्दाज था, नयी चेतना-गोष्ठी में रचना-पाठ के साथ-साथ प्रायः समीक्षा-प्रतिक्रियाएँ भी तत्काल सुनने को मिलतीं। वे कहा करते थे कि इन गोष्ठियों से रचनाकारों को नयी ऊर्जा और नव्य प्रेरणा प्राप्त होती है। एक बार पृथ्वीराज कपूर अपने दल-बल सहित बीकानेर आये। गंगा थियेटर में उनके तीन नाटकों का प्रदर्शन हुआ : दीवार, पठान और गद्दार। मुकुल जी ने उन नाटकों की विस्तृत समीक्षा एक स्थानीय पत्र में प्रकाशित की। पृथ्वीराज जी गद्गद् एवं प्रसन्न, कहने लगे : 'जैसा रेसपान्स मुझे यहाँ मिला, वैसा अन्यत्र नहीं!' इसी प्रकार एक बार देवीलाल सामर अपनी लोक कला मण्डली को लेकर बीकानेर पहुँचे, तो मुकुल जी ने उनके आतिथ्य में कोई कोर-कसर नहीं रखी। वे बीकानेर के साहित्यिक-सांस्कृतिक जीवन में प्रायः प्रकाश-स्तम्भ बने रहे। उनके जयपुर प्रवास ने बीकानेर के मित्रों के लिए एक चुम्बकीय आकर्षण की सृष्टि की, जब भी मिलना मिलते, एक निराली ही छवि नजर आने लगती। बड़े शौक से जमाना उन्हें सुन रहा था, पर वे चिर-निद्रा में विलीन हो गये! उनकी 'लेखनी' के स्वर आज भी दिग्दिगन्त में गूँज रहे हैं। ●

अर्द्धरात्रि की स्कूल-यात्रा

प्रो. लालताप्रसाद सक्सेना 'ललित'

बात अविस्मरणीय तो है ही, साथ ही अविश्वसनीय एवं चिर-स्मरणीय भी। पिताजी का विद्यानुराग मैं कभी भूला नहीं, भुला भी नहीं सकता। अनेकानेक मान-मनौतियों और देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना के फलस्वरूप जन्मा उनका लाड़ला पुत्र—मैं—बड़ा ज़िद्दी था। स्कूल के लिए देर हो जाती तो हंगामा खड़ा कर देता; रो-रो कर, सिसक-सिसक कर, घर में कोहराम मचा देता। गाँव में जब स्कूल न था और पिताजी ने अपने हृदय पर पत्थर रखकर, पढ़ने के लिए मुझे बड़ी दीदी के साथ उनके घर भेज दिया तो माँ को लगा मानो वात्सल्य को विद्यानुराग के बक्से में बन्द कर उन्होंने कहीं दूर रखवा दिया हो। किन्तु दीदी के घर पहुँच कर, पहले तो कई दिनों तक मैं स्कूल गया ही नहीं। कारण—गाँव के लड़कों ने मास्टर की मार के भय का हउआ-सा खड़ा कर रखा था। पर जब स्कूल गया तो सहपाठियों और शिक्षकों का ऐसा स्नेह मिला, साथी बालकों के साथ पढ़ने-लिखने की प्रतिद्वन्द्विता में ऐसा आनन्द आया कि स्कूल का ही होकर रह गया। आँधी-पानी और बीमारी-हारी में भी मैं बे-नागा स्कूल जाता। फलतः, स्कूल में बहुत पहले से आने वाले साथियों से भी बहुत आगे निकल गया। तभी गाँव से पिताजी आ धमके।

'बेटा! गाँव में स्कूल खुल गया है।'

'कहाँ तक?'

'दर्जा दोम तक।'

'पर यहाँ तो बहुत बड़ा स्कूल है—चहर्रुम ही नहीं, मिडिल तक।'

'तो क्या? वहाँ भी हो जायगा।'

तदनन्तर, मैं पिताजी के साथ अपने घर चला आया। दोम पास कर लिया तो आगे पढ़ने के लिए, पास ही 3 मील यानी आज के 5 किलोमीटर की दूरी पर स्थित गाँव सोन्सरी (स्वर्ण-श्री) के स्कूल जाने लगा। किन्तु वह स्कूल भी मात्र चहर्रुम—चौथे दर्जे—तक था। मात्र दो दर्जों की पढ़ाई। दो साल का समय ही कितना! गुज़र गया।

तदुपरान्त, मैंने गाँव से 14 किलोमीटर दूर तम्बौर कस्बे के मिडिल स्कूल में प्रवेश लिया। पर समस्या थी इतनी दूरी से नित्य पैदल स्कूल आने-जाने की। अतः स्कूल से 8 किलोमीटर दूर नानी के घर में रहने लगा। किन्तु एक वर्ष बाद, ननिहाल में दो वर्षों

तक और रहना उचित न समझकर, सीधे घर से ही स्कूल जाने लगा। 14 किलोमीटर जाना और 14 किलोमीटर आना; 28 किलोमीटर की पैदल यात्रा। बहुत थक जाता। पिताजी से कुछ कहता तो उनका उत्तर होता—'घोड़ों के लिए घर कितनी दूर!'

मैंने निराश होकर चुप्पी साध ली। बहलाने-फुसलाने की उन की आदत से खूब परिचित जो था, इसलिए। तभी मुझे उन्हीं का सिखाया हुआ ग़ालिब का यह शेर याद आ गया और मैंने बड़े क्षोभ से कहा—

'मुझको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन।
दिल के खुश रखने को 'ग़ालिब' ये खयाल अच्छा है।'

पिताजी को दुःख हुआ। बड़े प्यार से मुझे आश्वस्त करते हुए वे बोले—

'नहीं, बेटा! निराश न हो। कुछ दिन धैर्य रखो। समय दो सोचने का।'

'सोचना क्या है?'

'यही कि क्या करूं जिससे समस्या का समाधान हो जाए। साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।'

'तो फिर?'

'एक-दो मील दूर किसी गाँव में रहने की व्यवस्था कर दूंगा।'

मैं आश्वस्त हो गया। रात में सोने चला तो पिताजी से जल्दी जगा देने का अनुरोध किया। मात्र दो-तीन घण्टे गुज़रे होंगे कि आवाज़ आई—

'बेटा। उठ जा। स्कूल जाना है।'

चिन्ता तो थी ही। मैं उठ गया, तैयार हुआ और चल दिया। पिताजी सो गए। माँ भी गहरी नींद में थी—दिन भर के गृह-कार्य से थक कर चूर। वह भी एक बार उठकर सो गई।

मैं घर से निकला। हाथ में लाठी और एक अँगौछा। पुस्तकें-कापियाँ छात्रावास के एक सहपाठी मित्र के पास थीं। गाँव में सन्नाटा। कुत्ते भौंकने लगे। पर मैं नितान्त निर्भय—भय का भूत पहले ही भगा चुका था—हनुमान जी का उपासक, साथ ही भगवान् राम और देवाधिदेव शिव का भी। नित्य प्रातः स्नान करके हवन करता—दो-दो, तीन-तीन चालीसे पढ़ता—हनुमान्, राम और शिव के। यही नहीं, कभी-कभी दुर्गा और विन्ध्यवासिनी चालीसा भी। मांसाहार और जीवहत्या का विरोधी, कट्टर शाकाहारी मैं 12 वर्ष की आयु में भी व्रत-उपवास रखता, साथ ही प्रमुख देवी-देवताओं में अटूट श्रद्धा और भक्ति भी। अतः डरने का प्रश्न ही न था।

किन्तु अर्द्धरात्रि का समय। चतुर्दिक् सन्नाटा। लम्बी-चौड़ी कच्ची सड़क। बीच-बीच में बैलगाड़ियों के चलने से बनी दो-दो, तीन-तीन फुट गहरी खाइयों जैसी लीकें। पास ही एक ओर थोड़ी दूर बहती नदी के किनारे के झाड़-झंखाड़ और बबूल के

पेड़, दूसरी ओर खेतों में खड़ी फसल को नुकसान पहुँचाने वाले जानवरों को डराने के लिए बनाए गए आदमियों के पुतले। मन में कुछ भय-सा लगने लगा। सोचा—कहीं झाड़-झंखाड़ अथवा पेड़ों में भूतादि का भ्रम न हो जाय। कई दिनों से पूजा-पाठ भी तो विधिवत् नहीं हो पाता। इष्टदेव और भगवान् भी उपेक्षित हैं। कहीं पुतलों में भूत-प्रेत का आकार बनता नज़र आ गया तो? कहीं वस्तुतः डर गया तो? तो क्या होगा? फिर तो यहाँ रात में कौन देखने वाला? कोई साथी-संगी नहीं। इसलिए साहस किया—गमछा सिर पर डाला, कान ढक लिए इस तरह कि मात्र सड़क पर ही दृष्टि रहे—इधर-उधर जाए ही नहीं। लाठी सँभाली और 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते हुए चलने लगा—पूरा कण्ठस्थ जो था। कुछ देर बाद साथी-सहपाठी विद्याधर का गाँव आ गया।

किन्तु यह क्या? यहाँ भी सन्नाटा! कुत्ते भौंकने लगे। लाठी सँभाल कर आगे बढ़ा। कुत्ते कुछ शान्त हुए। रोज़ का आना-जाना। शायद पहचान गए। मित्र के घर पहुँचकर आवाज़ दी तो वह अपनी चौपाल से बाहर आया—

'अभी तो बहुत रात है। तू इतनी जल्दी कैसे आ गया?'

मुझे आश्चर्य हुआ। सोचने लगा—तभी तो रास्ते में सर्वत्र सन्नाटा था। बोला—'पिताजी ने जल्दी जगा दिया।'

'खैर, कोई बात नहीं। तू मेरी चारपाई पर सो जा। रजाई ओढ़ ले। एक नींद ले ले। मैं अन्दर सो जाऊँगा। चिन्ता की कोई बात नहीं। यहाँ चौपाल में सो रहे सभी मेरे घर के व्यक्ति हैं। उठूँगा तो तैयार होकर चलते समय तुझे जगा लूँगा।

मैं निश्चिन्त हो गया। बिस्तर पर लेटा, रजाई ओढ़ी तो न जाने कहाँ खो गया, मानो निद्रा देवी ने अपने वात्सल्यमय क्रोड में सुलाकर मेरे सारे दुःख दूर कर दिए। बड़ी गहरी नींद आई। तभी विद्याधर ने आवाज़ दी :—

'अरे यार! उठ जा! वक्त हो गया!'

मैं तुरन्त उठ गया। नींद अच्छी आई; इसलिए स्वस्थ, सन्तुष्ट और प्रसन्न था।

लाठी और अँगौछा लेकर हम दोनों साथ चल दिए। आठ किलोमीटर का रास्ता, पता नहीं कैसे बातों-बातों ही में तय हो गया—रास्ते और उस के किनारे के गाँव, बाग-बगीचे और नदी-नाले, पता नहीं, कब सब-के-सब निकल गए। 'एक से भले दो' की उक्ति चरितार्थ हो गई।

सामने विद्यालय का भवन था, आगे की ओर छात्रावास। अंधकार रूपी राक्षस विदा हो चुका था। अतः स्वभावतः हम दोनों अपने सहपाठी छात्रावासी मित्र के कमरे में चले गए। आज भी, वह घटना मेरे हृदय-पटल पर ज्यों-की त्यों अंकित है; आज भी वह दृश्य अतीत के चलचित्रवत् मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष प्रायः घूम जाता है।

●

हिन्दी-प्रेमी सेठ गोविन्द दास

विनोद सोमानी 'हंस'

सेठजी राष्ट्र नेता थे, हिन्दी के प्राण थे, वरिष्ठ सांसद थे। मेरे नगर में वे 1968 में पधारे थे। उनका अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम था। हिन्दी संस्थाएँ सजग हो गई थीं, तो अन्य संस्थान भी उनका लाभ उठाना चाहते थे। उनसे मिल पाना कठिन ही था। मेरा प्रथम काव्य-संग्रह त्रिकोण उन दिनों प्रेस में था। उसकी भूमिका किस विद्वान् से लिखवाई जाये, यही सोच चल रहा था। तभी एक मित्र ने सुझाया—'सेठजी आये हुए हैं। उन्हीं से लिखवा लो। इनसे बड़ा विद्वान् कहाँ मिलेगा!'

मैंने कहा—'धन्यवाद भैया, सेठजी और मेरी पुस्तक की भूमिका! यह स्वप्न ही बेकार है।'

परन्तु, मेरे मन में यह बात बैठ गई कि भाग्य को आजमाना चाहिए। मैं श्री गौरीशंकर तोषनीवाल से मिला, जिनके बंगले पर वे ठहरे हुए थे। उन्होंने आश्वासन दिया कि मिलवा जरूर देंगे, आगे आप जानें। तोषनीवालजी बड़े काव्य-प्रेमी थे; अतः परिचय भी था।

सेठजी कहीं से भाषण देकर लौटे ही थे। भोजन कर वे विश्राम कक्ष में जाकर लेट गये। स्वास्थ्य भी नरम था। मैं पाण्डुलिपि लेकर पहुँच गया। तोषनीवालजी ने परिचय कराया।

सेठजी बोले—'क्या लिखते हो?'

'कविताएं लिखता हूं। यह संग्रह छप रहा है। आपका आशीर्वाद...'

मैं पूरा नहीं बोल पाया।

'मैं थोड़ा थक गया हूं। आप पाण्डुलिपि छोड़ जायें और सायंकाल छः बजे आ जायें।' कहकर उन्होंने करवट लेली। मैं पाण्डुलिपि वहीं छोड़कर आ गया।

ठीक छः बजे मैं पहुँच गया। वे दिल्ली प्रस्थान की तैयारी कर रहे थे। मुझे देखते ही बोले—'आओ बैठो।' मन में डर था कि कहीं कह न दें कि ऐसी-वैसी पुस्तकों पर मेरी भूमिका चाहते हो। पर, उनके सौम्य व्यवहार ने ढाढस बंधाया।

अपने सचिव को बुलाया और भूमिका लिखवा दी। उसके नीचे अपने हस्ताक्षर कर दिये। मुझे भूमिका सौंप दी गई। मेरी प्रसन्नता का पार नहीं था।

मैंने आज्ञा मांगी तो बोले—'बस, बैठिये अल्पाहार कीजिये।'

संकोच के साथ कुछ खाया। सामान बंध चुका था। गाड़ी स्टेशन के लिए तैयार थी। दो-तीन गाड़ियां और भी खड़ी थीं। घड़ी देखी और खड़े हो गये—'आइये, स्टेशन तक छोड़ने नहीं चलेंगे?' मुझे स्नेह से अपनी ही गाड़ी में बिठा लिया। इस बीच मैं एक प्रश्न उनसे पूछना चाहता था। वह मौका मिल गया। मैं बोला—'सेठजी, लोग आपको हिन्दी का कट्टर समर्थक मानते हैं और इसी कारण कुछ स्वार्थी लोग आपकी आलोचना करते हैं कि प्रांतीय भाषाओं के प्रति आप उतने सक्रिय नहीं हैं।'

वे मुस्करा दिये—'मुझे गलत समझा जाता रहा है। मैं प्रांतीय भाषाओं के विकास के लिए सब कुछ कर रहा हूँ। वे पनपेंगी तो हिन्दी स्वतः ही राजभाषा बन जायेगी। परन्तु, अंग्रेजी भक्त मुझे कट्टर बतला कर हिन्दी व प्रांतीय भाषाओं का अहित कर रहे हैं।'

सेठजी का स्वप्न ऐसे भारत का था जहां अपनी ही भाषा और राष्ट्रगौरव का भान हो। स्टेशन पर उनके सचिव का टिकिट किसी अन्य ने खरीद लिया था। सेठजी तो सांसद थे ही। उन्होंने पता लगाया कि किसने टिकिट खरीदा। उनको सारे पैसे देकर बोले—'सचिव मेरी सुविधा के लिए है। आप पैसे क्यों देंगे?'

वे पहले भारतीय सांसद थे जिन्होंने संसद में पचास वर्ष पूरे किये थे। देश व समाज के लिए उनकी देन भुलाई नहीं जा सकती। ●

डॉ. चन्द्रकांत म. बांदिवडेकर के सान्निध्य में

विजय जोशी

सृजनात्मक परिवेश के लिए दिशाबोधीय आधार एवं प्रेरणात्मक सत्संग का होना आवश्यक है। वर्तमान सन्दर्भों में तो यह अपेक्षित भी है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में साहित्यिक सृजन के विविध पहलू दिशा-बोधक सान्निध्य एवं वार्तालाप के साथ-साथ प्रेरणात्मक, अन्तरंग बात-चीत के उल्लेख मिलते हैं। कदाचित् इसीलिए 'सान्निध्य की सहजता से सृजन पक्ष पल्लवित हो एक दिशा आधार प्राप्त करते हैं।'

इन्हीं सन्दर्भों को समेटे गत वर्ष दिसम्बर माह में मुम्बई के हिन्दी-मराठी के विख्यात साहित्यकार-समीक्षक डॉ. चन्द्रकांत म. बांदिवडेकर का सान्निध्य मिला। अवसर था राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा आयोजित 'स्व. डॉ. प्रकाश आतुर व्याख्यान-माला' का। दो दिवसीय (15-16 दिसम्बर, 1996) इस व्याख्यान-माला का विषय था—'आधुनिकता और भारतीय साहित्य की मानसिकता'। व्याख्यानकर्त्ता डॉ. बांदिवडेकर थे। श्री भारतेन्दु समिति भवन, कोटा में आयोजित इस व्याख्यान-माला का प्रथम व्याख्यान अपराह्न दो बजे से था। मैं नियत समय पर श्री भारतेन्दु समिति भवन, लाडपुरा पहुँच गया था। औपचारिक परिपाटी पूर्ण होने के बाद डॉ. बांदिवडेकर ने अपने व्याख्यान को प्रारंभ किया।

बड़े ही शालीन, प्रभावी तरीके से उन्होंने अपनी बात विषय की प्रस्तावना के रूप में अभिव्यक्त करते हुये कहा—'वर्तमान में सम्प्रेषण के समुचित अभाव में साहित्य की मूल सवेदना घुट कर रह गई है। साहित्य एवं कला सन्दर्भों में सम्प्रेषण का विशेष महत्त्व है। तथापि आधुनिकता के बढ़ते चरण के बावजूद सम्प्रेषण को उतना महत्त्व नहीं मिला, जितना मिलना चाहिये।' उन्होंने साहित्य में आधुनिकता के सन्दर्भ में देशीयमानसिकता की बात पश्चिम और भारतीय परिवेश के उदाहरण द्वारा सटीक शब्दों में प्रस्तुत की। समकालीन परिवेश से वर्तमान तक आधुनिकता के विस्फोट को अपने समीक्षात्मक तेवर से प्रस्तुत कर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस तरह बड़े सहज, सरल और बोधगम्य तरीके से उन्होंने वर्तमान के यथार्थ को भारतीय साहित्य की सृजन-सलिला के निकट ला दिया। आपने आधुनिकता को ही व्याख्यायित नहीं किया वरन् साहित्य सन्दर्भों में वर्तमान समकालीन परिवेश को भी उदाहृत किया।

आपकी विद्वत्ता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। प्रथम व्याख्यान के पश्चात् अल्पाहार के समय जब आपसे भेंट हुई तो आप बड़ी आत्मीयता से वार्तालाप करने लगे। परिचय से बात शुरू होकर साहित्य सन्दर्भों की वार्ता होने लगी। आपने मुझे

लेखन के प्रति श्रद्धा और लगन की प्रेरणात्मक सीख प्रदान की। मैं आपकी सहजता, सरलता एवं सात्विक सान्निध्य का कायल हो गया। मैंने जब आपसे मुम्बई का आवासीय पता पूछा तो आपने तुरन्त मेरी पॉकेट डायरी में लिख दिया। मुझे आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता ने आ घेरा। चूंकि इतने बड़े साहित्यकार-समीक्षक से सौहार्दपूर्ण निकटता का ऐसा सुअवसर मिलेगा, इसका विश्वास नहीं था।

अल्पाहार के पश्चात् द्वितीय व्याख्यान में डॉ. बांदिवडेकर ने अपनी बात को विषयानुरूप तार्किकता से प्रस्तुत करते हुये कहा—'आत्मकथा लेखन का रूप जिस प्रकार पश्चिम में उभरा है वैसा भारत में नहीं।' आपने आधुनिकता के मूल में विद्रोह की बात बड़े तार्किक रूप में प्रकट की। आपने रूसी उपन्यासकार दास्तोवेस्की का उदाहरण देकर अपराध व मन की गहराई का सामंजस्य प्रस्तुत किया। आपने भारतीय परम्परा में पूर्ण विनाश न होने की बात उजागर करते हुए कहा—'भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में भाषा के साथ विद्रोह नहीं देखा जाता, कदाचित् इसीलिए कि यहाँ शब्द को ब्रह्म माना गया है तथा उसे आदरणीय पद प्रदान किया गया है।' इस तरह डॉ. बांदिवडेकर ने अपनी बात को प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् श्रोताओं में बैठे विद्वज्जनों को चर्चा में भाग लेने को कहा। कुछ विद्वानों ने डॉ. बांदिवडेकर की बात से प्रश्न उभारे तो आपने बड़े ही तार्किक एवं सन्दर्भ सहित उनकी शंकाओं का समाधान किया। मैंने भी इस अवसर पर अपने विचार प्रकट किये। जिसे सुनकर स्वयं डॉ. बांदिवडेकर मेरी तरफ देखकर केवल मन्द-मन्द मुस्कराते रहे।

मैं आपकी प्रस्तुति और स्वाध्याय का कायल हो गया था। आपकी अभिव्यक्ति मेरे लिये सृजन का मार्ग प्रशस्त कर गई। मैं आपका तृतीय व समापनिक व्याख्यान, जो दूसरे दिवस 16 दिसम्बर, 1996 को था, नहीं सुन सका था। जिसका मुझे अभी तक अफसोस है। कारण था मुझे अप्रत्याशित रूप से कोटा से बाहर जाना पड़ गया था। किन्तु आपकी समग्र साहित्यिक प्रतिभा एवं सहज व्यक्तित्व से मेरा भली-भांति परिचय हो गया था।

आपके सहज, सरल व्यक्तित्व, निरभिमानता एवं सुहृदयता मेरे मुम्बई प्रवास-काल में भी रेखांकित हुए। मुम्बई पहुँच कर एक-दो दिन पश्चात् 25 दिसम्बर को मैंने आपको फोन किया। कोटा (राजस्थान) का प्रसंग देकर जब मैंने आपको अवगत करवाया तो आप बड़े हर्षित और प्रसन्न हुये। आपने मुझे पहचानकर मेरा दूरभाष पर ही मुम्बई में स्वागत किया और ठहरने का स्थान पूछा। मैंने अंधेरी (वेस्ट) का पता आपको बता दिया। जब मैंने मिलने की बात कही तो तुरंत समय भी बता दिया। मेरा मन आपकी सरल-हृदयता और विराट् व्यक्तित्व के प्रति नतमस्तक हो गया था, वरना वर्तमान में बड़े साहित्यकारों के पास इतना समय कहाँ।

दूसरे दिवस मैं डॉ. बांदिवडेकर के बताये समय पर किसी कारणवश न पहुँच सका, परन्तु सायंकाल अपनी पुस्तक 'ख़ामोश गलियारे' (कहानी संग्रह) लेकर

बान्द्रा (पूर्व) में स्थित साहित्य सहवास विंग में आवास पर पहुँचा। श्रीमती बांदिवडेकर ने मेरा अभिवादन स्वीकार किया। मैंने उन्हें सवेरे नियत समय पर न पहुँचने की सारी बात बतायी। चूंकि डॉ. बांदिवडेकर किसी साहित्यिक कार्यक्रम में चले गये थे इसलिए मैं अपनी पुस्तक श्रीमती बांदिवडेकर को सौंप कर आ गया।

अगले दिन 27 दिसम्बर को मैंने फोन कर डॉ. बांदिवडेकर से क्षमा मांगते हुये समय लिया और बताये गये निश्चित समय पर उनके आवास पर पहुँच गया। आपने अपने सुपरिचित, सहज एवं आत्मीय तरीके से मेरा स्वागत किया। कमरे में उनके मित्र मि. मेनन साहब बैठे थे। उनके आसपास पुस्तकों का ढेर लगा था। आपने मेरा परिचय उनसे कराया—'ये हैं विजय जोशी, कोटा-राजस्थान से। हाल ही में मैं जब डॉ. प्रकाश आतुर व्याख्यान माला के अवसर पर कोटा गया था तब इनसे परिचय हुआ।' सुनकर मि. मेनन ने हाथ मिलाया। मैं उनके पास ही बैठ गया।

बनावटीपन से मुक्त स्वत: प्रेरित माहौल में हम सब बतियाने लगे। बातचीत में खुलापन, सहजता एवं आत्मीयता थी। मैंने उत्सुकतावश आपके सृजन कार्य के बारे में पूछा तो आपने उपन्यास, मराठी-ग्रंथ, संपादित ग्रंथ एवं अनूदित ग्रंथ के साथ अन्य अनुवाद कार्य के साथ समीक्षा कार्य के बारे में संक्षेप में बताकर 'वर्तमान में भारतीय उपन्यास' पर कार्य करने की बात बतायी। बातों ही बातों में आपने आज की दिखावटी संस्कृति का भारतीय साहित्य पर दुष्प्रभाव को समझाकर साहित्यिक गुणात्मकता के ह्रास पर चिन्ता प्रकट की।

जब मैंने उपन्यास-कहानी लिखने में आवश्यक बातों को ध्यान में रखने की बात पूछी तो सहज ही आप बताने लगे—'देखो विजय, उपन्यास में सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष को ध्यान में रखो.... वहीं तुम्हें अच्छे कहानीकारों को पढ़ना चाहिये....निर्मल वर्मा को पढ़ो। कहानी में तुम्हें संघर्ष की गहराई का ध्यान रखना चाहिये। कहानी में संघर्ष की स्थिति को रेखांकित करना महत्त्वपूर्ण है। उसमें समाधान का संकेत होना चाहिये। वैसे राजस्थान में विजयदान देथा अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। मैंने उनकी दो-चार कहानियाँ पढ़ी हैं।'

जब समीक्षा की बात चली तो आपने समीक्षा के शास्त्रीय व नैसर्गिक पक्षों को बड़े सहज, बोधगम्य तरीके से मुझे बताया। आपने स्पष्ट किया कि समीक्षा ही किसी भी रचना को एवं उसके रचनाकार को पाठक से जोड़ती है, उनमें संवाद स्थापित करती है। आपने समीक्षा तथा समीक्षक की सीमा-मर्यादा के साथ-साथ समीक्षक के कर्म तथा दायित्व के बारे में बताया कि समीक्षा बौद्धिकता के साथ अनुशासित होकर संवेदनात्मक पक्षों को मर्यादा में रखती है। समीक्षक की तटस्थता पर भी आपने बल दिया। इस तरह आपने समीक्षा-समीक्षक की सार्थक अभिव्यक्ति को बातों ही बातों में बता डाला।

मैं आपकी स्पष्ट अभिव्यक्ति और सटीक बयानगी से प्रभावित हुये बिना न रहा। अन्तत: मैंने जब अपनी पुस्तक पर समीक्षात्मक आलेख लिखने की बात कही तो

सहज ही बोले—'अवश्य लिखूँगा। अच्छा प्रयास है। लिखते रहो। पुस्तक अच्छी है।' मेरा मन ऐसे सहज, सरल, विराट्हृदयी विद्वान् के सान्निध्य से कृत-कृत्य हो उठा। इस बीच मि. मेनन अपना कार्य करते रहे। डॉ. बांदिवडेकर से विदा पूर्व, मैंने उनकी साहित्य-सेवा के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहा तो वे मुस्करा दिये। उन्होंने बड़ी सहजता और शालीनता से अपने 'जीवन-परिचय' की प्रकाशित-प्रति की छाया-प्रति देते हुए कहा—'इसमें मेरी सृजन सेवा के साथ कार्य, क्षेत्रादि के बारे में उल्लेख किया है।' मैंने उनका परिचय प्रकाशित ग्रंथों, जिनमें हिन्दी, मराठी, संपादित, अनूदित ग्रंथों की सूची को पढ़ा तो सुखद आश्चर्य हुआ। जब उन्होंने हिन्दी उपन्यास के ग्रंथों को जिनमें 'हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति', 'जैनेन्द्र के उपन्यास', 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सृजन और आलोचना' पढ़कर दिशा बोध की बात कही तो मेरा मन इन्हें पढ़ने को लालायित हो उठा। अन्ततः इस दिशाबोधीय वार्तालाप को विराम दे मैंने डॉ. बांदिवडेकर से विदा ली।

आज जब लोग आत्ममुग्धता के साथ-साथ स्वकेन्द्रित होते जा रहे हैं, तब आपका शालीन व्यवहार, बोधगम्य वार्तालाप और दिशाबोधक सुझाव मुझ अकिंचन के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हो रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी पुस्तक पर आपका समीक्षात्मक आलेख मेरे भावी लेखन कर्म को दिशा एवं स्फूर्ति प्रदान करेगा। मुझे अपने कहानी संग्रह पर आपके समीक्षात्मक आलेख की प्रतीक्षा है....। ●

कोटा के संवेदना-सागर : श्री शम्भुदयाल सक्सेना

डॉ. सियाराम सक्सेना 'प्रवर'

जब-जब मुझे कोटा के सन् 1942 के स्वतंत्रता आन्दोलन का स्मरण होता है, तब-तब सदा ही सबसे पहला और देर तक मनश्चक्षुओं में छाये रहने वाले जिस विशेष व्यक्तित्व का सतत प्रेरणादायी स्वरूप प्रत्यक्ष-सा गोचर होता है, वह परम मानधनी हैं श्री शम्भुदयाल सक्सेना। मेरे समक्ष होता है एक लम्बा छरहरा शरीर, प्रतनुकाय में ओज और तेज की अन्तर्दीप्ति, जिससे झिलमिलाता है उनका बाह्य, किञ्चिद् गौरवर्ण मानो ज्वालामुखी की धधक को शुभ्र धवल हिम-परत ने अपने भीतर रोक रखा हो किसी उपयुक्त अवसर पर प्रवाह-त्वरा के साथ प्रकट होने के लिए। चमकती सफेद धोती, बन्द गले का कोट, कभी-कभी बण्डी और सफेद गान्धी टोपी। खादी का पावन परिधान। पैरों में चप्पल या पम्प शू। सभी परिधान सँवारा हुआ स्वच्छ, उज्ज्वल। नेत्रों में से आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, सौमनस्य, और सौहार्द की स्निग्ध किरणें विकीर्ण होती हुई। मुखमुद्रा अत्यन्त सौम्य, साथ ही उतनी ही तेजस्वी, विरोधों और व्यवधानों को चुनौती देती हुई, जो मानो उन सबको क्षण मात्र में परे दूर धकेल देने के लिए उत्तर हो।

बम्बई (मुंबई) में 8 अगस्त, सन् 1942 के स्वतंत्रता-संग्राम के 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' उद्घोष का शंखनाद करने वाले गान्धीजी आदि राष्ट्र-नेताओं को जेल में ठूँस दिया गया और उस आन्दोलन का तथा जनता का बर्बर दमन किया जाने लगा। जेल जाने से पूर्व गांधीजी ने भारतीय जनता को 'करो या मरो' का सन्देश दिया। यह सब कोटा को 9 अगस्त प्रातः समाचार-पत्रों से ज्ञात हुआ; और उत्तेजित जनता निर्णायक आन्दोलन करने के लिए ब्रज-सरोवर के निकटवर्ती उपवन के भाषण-मंच की ओर जाने के लिए उमड़ पड़ी। तत्कालीन हर्बर्ट कालेज के सभी प्राणवान् विद्यार्थी भी वहाँ पहुँच गये। वहाँ मंच पर कोटा के सभी बड़े नेता उपस्थित थे। उनके अत्यन्त ओजपूर्ण भाषण हुए। उनमें पत्रकार सर्वश्री अभिन्नहरिजी, श्यामनारायण जी सक्सेना, हीरालाल जैन, पुरुषोत्तम मंत्री, वकील वेणीमाधव जी शर्मा, जोरावरसिंह जैन, और छात्र-नेता ब्रजकिशोर मेहरा तथा विष्णु प्रसाद शर्मा आदि भी थे। तब वहाँ मुझे इस महामहिम यशोधन के प्रथम दर्शन हुए। सभी ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए कांग्रेस के (जो उस समय की सभी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती थी) अनवरत प्रयासों का उल्लेख करते हुए, आजादी के लिए मर मिटने का आह्वान किया। शम्भुदयालजी जब भाषण देने के लिए आगे आये, तो उनके व्यक्तित्व की धज ही निराली थी। उनके

सौम्य मुखमण्डल पर देश के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने के दृढ़ निश्चय की असीम, अदम्य आभा प्रदीप्त हो रही थी। उनके मुख से निकले शब्दों की एक-एक ध्वनि चित्त को सीधे वेधती थी। उन्होंने भारत में अंग्रेज़ी शासन के द्वारा की गयी भारी तबाही के जीवन्त चित्र प्रस्तुत करते हुए, जनता की कंगाली, भूखमरी और निरीहता का प्रत्यक्षण कराया, और इस प्रकार अब श्रोताओं के हृदय उद्वेलित और उतावले हो उठे, तब उन्होंने शतशः बिजलियों के समान कौंधते-कड़कते-गरजते हुए शब्दों में भारत माता को अपनी-अपनी मुण्डमालाएँ पहनाने के लिए आह्वान किया। उनके शब्दों में ऐसा जादू था कि उनके भाषण की समाप्ति के पूर्व ही सारी जनता समुद्री ज्वार के समान पुलिस-कोतवाली और सैनिक छावनी तथा कलेक्ट्री पर तिरंगा फहरा देने के लिए उद्दाम वेग से उमड़ पड़ी। और उसने ऐसा कर भी लिया।

कोटा राज्य पर अंग्रेज़ी भारत शासन द्वारा थोपे गये मुख्यमंत्री घोसालिया ने छल-बल से, जनता के अनजाने में नेताओं को गिरफ़्तार करवा लिया। किन्तु इससे जनता का मनोबल तनिक भी कम नहीं हुआ और उसमें से नये नेता प्रकट हो गये। छात्रनेता विशेष रूप से सक्रिय हुए, और छात्रों के असंख्य दलों ने सभी संचार-साधनों को भग्न करके, अथवा अपने अधीन करके कोटा नगर पर जनता का शासन स्थापित कर लिया। इसमें कोटा के महाराव भीमसिंह जी और उनके अपने अमले—सैनिक और सिविल (नागरिक) का भी मौन सहयोग था; उस ओर से कोई दमनात्मक कार्य नहीं हुआ। इस तत्कालीन लघु स्वाधीनता-प्राप्ति का विवरण विस्तृत है, जिसका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

शम्भुदयाल जी ने यह सोच कर कि नेताओं को जेल में डाल दिया जायगा, आन्दोलन को निरन्तर अबाध गति से चलाते रहने के लिए भावी नेताओं की दूसरी-तीसरी शृंखलाओं की भी पूर्व-नियोजना कर दी थी। इसी का परिणाम यह था कि आई.जी. पुलिस सन्तसिंह द्वारा जनता पर घोड़े दौड़ाने, लाठियाँ बरसाने और गोलियाँ चलाने, तथा नेताओं को प्रतिदिन पकड़ते जाने पर भी आन्दोलन रुका नहीं वरन् तीव्र से तीव्रतर होता चला गया। तीन दिन तक नगर पर जनता का अधिकार रहा। उन दिनों में छात्र-संगठन ने नगर का नागरिक प्रशासन और बहुत-कुछ सैनिक क्रियाकलाप भी सम्हाला—इतने सुन्दर और व्यवस्थित रूप से कि उन दिनों नगर में चोरी आदि की कोई घटना नहीं हुई। छात्रगण पुलिस का कार्य करते हुए, नगर में दिन-रात सुरक्षा-अटन करते थे। दण्डाधिकारी भी छात्रों में से ही बनाये गये थे, किन्तु उन दिनों कहीं कोई अपराध न होने से छात्र-न्यायालयों की सक्रियता प्रायः नहीं हुई। सहस्रों छात्र तत्परतापूर्वक यह राष्ट्रसेवा कर रहे थे। मेरे साथियों में महावीर प्रसाद शर्मा, गजानन शर्मा, मूलचन्द भंसाली, कन्हैयालाल व्यास, बद्रीप्रसाद व्यास, कन्हैयालाल शर्मा, हीरालाल शर्मा, ब्रजनाथ सक्सेना, वंशीधर गुप्ता, कल्याण प्रसाद गुप्ता, कल्याणमल जैन, नेमीचंद बौठिया, रामप्रसाद डंडोतिया आदि, तथा अनुज राधेश्याम सक्सेना थे।

श्री मूलचंद भंसाली श्री शम्भुदयाल जी सक्सेना के घर के पास ही रहते थे। आंदोलन की सफल परिणति के पश्चात् भंसाली जी ने सक्सेना जी से मेरी भेंट करवाई। तब मुझे उस महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त होने लगा। शम्भुदयाल जो आन्दोलन के संचालन में चौबीसों घण्टे इतने लीन रहते थे कि मस्तिष्क पर निरन्तर भारी दबाव रहने के कारण उन्हें निद्रा-अटन (सोमनैमबुलिज़्म) का रोग हो गया था, जो कुछ महीने चला, और एक बार तो वे रात में छत से गिरते-गिरते, भगवत्कृपा से ही बचे। अपने कार्यों के प्रति उनकी यह सम्पूर्ण-मनस्कता सदा ही रही। इसीलिए वे हाथ में लिये हुए सभी कार्यों को सफल पूर्णता तक पहुँचा सकते थे।

शम्भुदयाल जी ऐसे नेता थे, जो जनता के मसीहा थे, और साथ ही कोटा के महारावश्री के भी सम्मान-पात्र थे। जनता और शासक दोनों का प्रिय होना एक स्पृहणीय अद्भुत उपलब्धि है जो किसी बिरले की ही निधि होती है। यह उसी के लिए संभव है जो जगत् में केवल द्रष्टा भाव से आचरण करता है, सबका हित-चाहता और निष्पन्न करता है, किन्तु किसी में भी आसक्त और सम्पृक्त नहीं होता। हित सबका, अहित किसी का नहीं। न राग, न द्वेष, बस प्रेम ही प्रेम। यह उसी के बूते बात है, जो केवल सत्य और औचित्य की डगर पर संचरण करता है। दर्शनशास्त्र और संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के विद्वान् होने के कारण शम्भुदयाल जी ऐसा कर सके। सन् 1947 में कोटा में आये सहस्रों शरणार्थियों को उत्तम रूप से बसाने की उन्होंने व्यवस्था की, तथा 1949 में हाड़ौती में अनाज की आपूर्ति न होने पर अनशन किया और जेल गये। इससे सरकार अनाज की आपूर्ति करने के लिए बाध्य हो गयी। शम्भुदयाल जी आरंभ से अंत तक जनता के सर्वाधिक प्रिय और सम्माननीय पथप्रदर्शक तथा नेता रहे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही समय बाद नेहरूजी बृहद् राजस्थान के उपयुक्त मुख्यमंत्री की खोज में कोटा आये। उन्होंने शम्भुदयालजी को इस कार्य के लिए योग्यतम समझा और उनसे इस पद को ग्रहण करने का प्रस्ताव किया। शम्भुदयालजी ने आदरपूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, 'मैं उस व्यवस्था का अंग बनने में अपने आप को असमर्थ पाता हूँ, जिसने देखते-देखते, कुछ ही दिनों में, जनता के कष्ट इतने बढ़ा दिये हैं। महँगाई छलांगें मारती हुई बढ़ रही है, और जनता की पुकार के प्रति शासन ने कान बन्द कर लिये हैं।'—आज मैं सोचता हूँ कि यदि उन्होंने मुख्यमंत्रित्व ग्रहण कर लिया होता, तो इस प्रदेश में राजनीति और शासन में नैतिक मूल्यों की इतनी गिरावट आने से कदाचित् बहुत-कुछ रुक सकती थी। फिर भी, उन्होंने जो ऐसा बड़ा निर्णय लिया, उसमें उनकी विचारणा ने प्रत्यक्षतः होने वाली हानि और भविष्य में संभावित राष्ट्र-चेतना-निर्माण के सार्वजनीन हित और लाभ की तुलना अवश्य ही की होगी। हो सकता है कि उन्होंने यह सूक्ष्मता से समझ लिया हो कि जो नयी शासन-पद्धति चली है, उसमें मूल्यों के सरक्षण की प्रवृत्ति होने वाली नहीं है।

इस प्रकार, शम्भुदयाल जी शासनकारिता से अपने को पृथक् कर राष्ट्र के संगठन में जुट गये। उन्होंने तभी सोच लिया था कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए प्रजा का, जनता का शिक्षित होना नितान्त अनिवार्य है। इसी उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा के प्रसार में स्वयं को समर्पित कर दिया। उन्होंने पहले 'हितकारी विद्यालय' (1937) की स्थापना की थी और उसके द्वारा वे राष्ट्र सेवा में लगे हुए देशभक्तों के जीवन-यापन की व्यवस्था करते थे। इस विद्यालय में सन् 1948-49 में मैंने भी एक शिक्षक के रूप में कार्य किया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस विद्यालय का लक्ष्य हो गया प्रजातन्त्र की सच्ची मानसिकता विकसित करना। इसी क्रम में उन्होंने 'शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालय' (1965) की स्थापना की, और प्रजातन्त्र के लिए अपेक्षित भावना वाले शिक्षकों को तैयार करने का पथ प्रशस्त किया। शिक्षकों के लिए कल्याण-कोष और एक सहकारी बैंक स्थापित किया, जो हितकारी विद्यालयों के शिक्षकों आदि की अनेक प्रकार से सहायता करते थे। कुछ समय बाद इसका विस्तार हितकारी के शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य शिक्षकों के लिए भी कर दिया गया। सन् 1969 में 'हितकारी रात्रि विद्यालय' और 'हितकारी श्रमजीवी विद्यालय' स्थापित किये। रात्रि महाविद्यालय में दलितजनों की शिक्षा तथा प्रतिष्ठावर्धन का कार्य होता है।

शम्भुदयाल जी आरम्भ से अन्त तक जनता के सर्वाधिक प्रिय और सम्माननीय पथप्रदर्शक तथा नेता रहे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व से और स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् भी (सन् 1942 से 1951 तक) वे कोटा नगरपालिका के अध्यक्ष रहे। उनके अध्यक्षता काल में कोटा नगर के सौन्दर्यीकरण का सतत अभियान चलता रहा। ब्रजविलास उपवन, महासरोवर तथा जगनिवास, कनसुवाँ, अधरशिला, दादाबाड़ी, गैपरनाथ खड्डु और कोटा जंक्शन (मुहल्ला) आदि की स्वच्छता, सुन्दरता, नगर के भीतरी और बाहरी मार्गों का स्वच्छ नवीनीकरण, नगर के प्रत्येक भाग की दैनंदिन सफ़ाई, ग्रीष्म ऋतु में सड़कों पर जल-छिड़काव, राजमार्गों, मार्गों, गलियों, मुहल्लों और घरों में प्रकाश की समुचित व्यवस्था एवं पुस्तकालयों और वाचनालयों के संवर्धन और नवस्थापन आदि पर आपकी अनवरत दृष्टि रहती थी। नगरपालिका सम्बन्धी किसी भी कार्य के लिए कभी भी कोई मिलता, आप बड़े सौहार्द के साथ उसकी समस्या का समाधान करते थे। मैं तो सब प्रकार से उनसे बहुत छोटा था, उनके विद्यालय की सेवा में भी था, तब भी वे मेरा बहुत सम्मान करते थे। जब भी मैं उनसे मिलने जाता, वे खड़े होकर आगे बढ़कर मुझे अपने साथ लेते और अपने पास बैठाते एवं बड़े स्नेह से बातचीत करते थे। उनका वह स्नेह-सम्मान मेरी अविस्मरणीय भाव-निधि है।

श्री गौरी सहाय जी के पौत्र, और श्री गोविन्द प्रसाद जी के पुत्र श्री शम्भुदयाल जी एक धर्मनिष्ठ, अहिंसावादी, वैष्णव भाव सम्पन्न व्यक्ति थे। उनका दिन प्रभुवंदन, प्रायः संध्या कार्य और मथुरेश जी के दर्शन से आरम्भ होता था। खानपान में वे पूर्णतः

सात्विक और शाकाहारी थे। यज्ञोपवीत धारण करते थे। व्यवहार में सदा सरल और निश्छल रहे। उनके शब्द-शब्द से सौमनस्य, सौहार्द और बन्धुत्व ध्वनित होता था। जो भी उनके सम्पर्क में आता, उनका हो जाता, उनसे अभिन्नत्व की अनुभूति करता। उनके देवत्व की पावन स्निग्ध ज्योति सर्वत्र छा जाती। इसी क्रम में उन्होंने एक सतसंग-समाज ('राम-नाम प्रकाशन सहकारी समिति') की स्थापना की और भव्य 'गीता भवन' का निर्माण करवाया। उसमें वे सन्तों-महात्माओं और उच्च कोटि के विद्वानों के प्रवचन करवाते रहते थे, और प्रत्येक अवसर पर वे स्वयं भी वहाँ उपस्थित रहते थे, अधिकतर श्रद्धालु श्रोता के रूप में और यदा-कदा आचार-निष्ठ वक्ता के रूप में।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' शम्भुदयालजी के जीवन-दर्शन का मुख्य प्रतिष्ठान था, जिसके विविध रूप थे—प्रेम, विनम्रता और परस्पर हित-साधन। उनके प्रेम का विस्तार देश-प्रेम और त्याग में, विनम्रता का सद्भावना में और हित-साधन का सामाजिक मिलनसारिता में हुआ। इस प्रकार, शम्भुदयाल जी में मानवीयता का प्रत्यक्ष रूपायन था; वे मानवता की साक्षात् मूर्ति थे।

एक अनहोनी टल गई

सी. एल. सांखला

बात उन दिनों की है जब बेरोजगारी के दमघोंटू माहौल से अलविदा होकर मैं एक 'सरोजगार' इंसान बना था। उस दिन धन्य हो गया था मैं और सफल हो गया था मेरा मनुष्य जीवन। सन् 1985 की आखरी साँसें अपना जीवन मुझे सौंप गई। छीपाबड़ौद पंचायत समिति द्वारा लिये गये साक्षात्कार में उतने ही प्रतियोगी पहुँचे, जितने उन्हें चाहिये थे। परिणामतः मैं उसी दिन अध्यापक हो गया और दूरदराज की उबड़-खाबड़ पाषाण खण्डों से लदी घाटियों में स्थित उमरिया गाँव के प्राइमरी स्कूल में मुझे नियुक्त कर दिया गया। परिवार वालों के लिए, गाँव वालों के लिए मैं कल तक एक बिलकुल निकम्मा और बिना काम का प्राणी था। परन्तु, उस दिन से मैं सभी के लिए एक प्रेरणास्रोत हो गया था। सब मुझे सम्मान देने लगे। मेरी उमंगें आसमान छूने लगीं। लगा कि मैं एक 'सुपर स्टार' बन गया था। हालांकि शुरू में तनख्वाह पौने आठ सौ ही थी।

छोटा सा उमरिया गाँव। तीस चालीस घरों की बस्ती। कुछेक परिवारों को छोड़कर बाकी सभी मीणा समाज के थे। लोग अधिकतर निरक्षर, किंतु सहृदयी थे। गाँव के पटेल जी भी ऐसे मानो देवता हो। अन्यथा कई पटेलों को देख चुका था। मूँछ से हाथ उतारते ही न थे, परन्तु उनकी बात और थी। कभी उनका हाथ मूँछ पर देखा ही नहीं। उन्हीं के संस्कारों में ढले उनके बड़े लड़के पंचायत के संरपच थे। पंचायत पास के झनझनी गाँव में लगती थी। गाँव उमरिया में एकमात्र मैं ही कर्मचारी था। लोगों के कोर्ट-कचहरी का या पंचायत समिति का अथवा रिश्तेदार का कोई पत्र आता तो मेरे पास ही आते थे उसे पढ़वाने के लिए। उन लोगों के बीच रहकर मेरे हृदय को अत्यन्त सुकून मिला था।

वहाँ के मीणाओं में एक अजीब बात देखने को मिली। पास ही एक गाँव था मानपुरा। उसमें भी अधिकांशतः मीणा लोग ही थे। परन्तु दोनों गाँवों के मीणा एक दूसरे गाँव के मीणाओं के यहाँ जीमने नहीं जाते थे। न ही कोई रिश्ते-नाते करते थे। मैंने सोचा कि शायद किसी बात को लेकर कभी दोनों गाँवों के बीच झगड़ा हो गया होगा। परन्तु बात यह नहीं थी। दोनों गाँवों के लोग एक दूसरे के खेतीबाड़ी के कामों में हाथ बँटाते थे। कोई बैरभाव नहीं था। इतने अच्छे होकर भी वे एक दूसरे की रसोई नहीं जीमते थे। इसका राज मैंने पटेल जी से जानना चाहा। पटेल जी ने बताया कि वे लोग देशी मीणा थे और उमरिया वाले पचवारिया। दोनों में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं था। जो परम्परा से चली आने वाली रीत थी। मैंने पटेल जी सहित अन्य लोगों को

भी समझाने की कोशिश की कि कभी किसी जमाने में कोई विवाद उठा होगा। उसी को पीढ़ी दर पीढ़ी ढोते रहना उचित नहीं था। मानाकि सभी परम्पराएं खराब नहीं होती, किन्तु जो अनुचित हैं, उन्हें समाप्त करके नवीन परम्पराएं विकसित करने में हिचक भी क्यों होनी चाहिये? पटेल जी ने हंसकर कहा था—'म्हाको जमानो तो होटग्यो (बीत गया)। नूया मोड़ा-मोड़्यां (लड़के-लड़कियाँ) नै थां चावो जिस्या बणाओ। म्हांनै कोई इतराज कोनै।'

दिन अच्छी तरह बीतने लगे थे। मुझे हर महिने की पन्द्रह तारीख को अपने वेतन केन्द्र हरनावदा पर मासिक डाक देने जाना पड़ता था। मासिक मानचित्र, उपस्थिति रिपोर्ट आदि। लगभग दस-बारह किलोमीटर ऊबड़-खाबड़ रास्तों को पार करके पैदल-पैदल ही हरनावदा जाता था। ऐसा निर्जन स्थान तो मैंने पहली बार ही देखा था। हालांकि रास्ते में एक तरफ कुछेक झोंपड़ियों का एक गाँव पड़ता था। परन्तु फिर भी वातावरण में सुनसान हो रहता था। इसलिए एक अज्ञात दहशत पैदा होकर हृदय धड़क ही जाता था। पहली बार डाक पहुँचाने गया तो रास्ता बड़ा अटपटा लगा था। मन में अजीबोगरीब विचार उठते। आसपास दूर दूर तक ऊँची-नीची घाटियाँ, छोटे-बड़े पत्थर ही पत्थर और लोढ़ियों से भरा हुआ रास्ता। दूर-दूर तक छोले के पेड़, झाड़ियां, कुछ सागवान के वृक्ष और भी न जाने कौन-कौन-सी किस्मों की वनस्पतियाँ उगी हुई थीं। उन्हें देखकर मुझे मेरे पिताजी की याद आ जाती। क्योंकि उन्हें देशी जड़ी-बूँटियाँ एकत्र करने की विशेष रुचि रही है। हर प्रकार की वनस्पतियों को पहचानने और उनके गुणदोषों को जानने में वे निपुण हैं। आयुर्वेद के कई प्रकार के पुराने ग्रन्थों का गहन अध्ययन भी उन्होंने किया है। खैर, उस समय मैं क्यों जड़ी-बूँटियों को ढूँढने लगा? मेरे ऊपर तो केन्द्र पर पहुँच कर स्कूल की डाक ठीक समय पर पहुँचा देने की धुन सवार थी। मैं बेधड़क तेजी से चला जा रहा था। आगे जाकर रास्ता दो भागों में बँट गया। मैं असमंजस में पड़ गया कि कौनसा रास्ता हरनावदा जाने वाला था। बहुत देर तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में खड़ा-खड़ा आस-पास देखता रहा। फिर एक रास्ते को छोड़कर दूसरे रास्ते पर चल पड़ा। कुछ दूर जाने के बाद मन को लगा कि मैं गलत रास्ते पर था। हरनावदा उस दिशा में न होकर शायद दूसरी ओर ही था। मैं लौटा। वहीं आ खड़ा हुआ, जहाँ रास्ता दो हिस्सों में बँटा था। मैं एक पेड़ के नीचे आ गया। कुछ देर बाद एक बूढ़ा आदमी उधर से जाता हुआ दिखाई दिया। मैं झट दौड़कर उसके पास पहुँचा और हरनावदा का रास्ता पूछा। उसने मुझे सही रास्ता बताया। उस बूढ़े आदमी ने मेरी ओर अजीब निगाह से देखा था। कहीं मैं कोई चोर-उचक्का तो नहीं? परन्तु मैंने उससे कहा कि मैं एक अध्यापक हूँ। यह इलाका मेरे लिए अपरिचित है। अध्यापक की बात सुनते ही वह खुश हो गया और मुझसे 'गुरुजी!' 'गुरुजी!!' कहने लगा। पास ही उसकी झोंपड़ी थी। वहाँ पर उसका खेत और कुआ भी था। उसने आग्रह किया कि मैं वहाँ पर जाऊँ। परन्तु मुझे तो जल्दी ही हरनावदा पहुँचना था। मैंने लौटते वक्त उसकी झोंपड़ी में रुकने की बात कही और चल पड़ा था।

स्कूल की डाक ठीक समय पर पहुँचा देने से मैं बहुत खुश था। अब मुझे वापस उमरिया आना था उसी रास्ते से। क्योंकि सुबह समय पर स्कूल खोलना था। हालांकि बहुत से अध्यापक केन्द्र पर डाक देकर अपने-अपने गाँवों को रवाना हो गये थे, परन्तु मैं तो नया कर्मचारी था। स्कूल बंद रखना नहीं चाहता था। अतः वापस उमरिया लौटने का निश्चय मैंने कर लिया था। ढाई तीन घंटे का पैदल रास्ता था। परन्तु मन में जब लगन और उत्साह होता है तो कितनी ही मुश्किलें आसान लगने लगती हैं। अंधेरा होते-होते मैं सकुशल उमरिया आ पहुँचा था। देर से आने पर गाँव के कुछ हितैषी और समझदार लोगों ने मुझे हिदायत दी थी कि 'मास्टर साहब! दिन डूबने से पहले आ जाया करो। चोर-लुटेरों और जंगली जानवरों का भय है।' एक मामूली डर मेरे अन्दर व्याप्त हो गया था। सोचा, शायद गाँव वाले मेरे ही भले की बात कह रहे थे।

पहला पहला वेतन पाना हर किसी के लिए आनंददायक ही होता है। उस दिन मुझे पहलीबार वेतन मिला था। कुछ हर्ष और कुछ गर्व अनुभव हुआ था। सोच रहा था कि ये सारे मां के कदमों में रख दूँगा, जो हमेशा दुखी, पीड़ित और अभावग्रस्त रही है। बहुत खुश होगी वह। अथवा ये सारे पैसे पिताजी के आगे फेंक दूँगा। कहूँगा कि आप मुझे सर्वथा निकम्मा मानते थे न! बात बात पर मुझ से पढ़ाई के खर्चे के रोवने रोते रहते थे न! ले लीजिये रुपये। और चुक लीजिए सारा कर्ज। या फिर....सारे नोट अपनी धर्मपत्नी के हाथों में थमा दूँगा, जिसने पति की बेरोजगारी के कारण कई ताने उलाहने सुने हैं। जरूरत की कई चीजों के अभाव में मन मार कर रह गई थी जो। कहूँगा उससे कि लो! कर लो अपनी जरूरतें पूरी। अब मैं अपने पाँवों पर खड़ा हूँ। इस प्रकार मन के लड्डू बना रहा था। कल्पना के किले गढ़ रहा था। वेतन चुक कर सभी अध्यापक अपने घरों को चले गये थे। मेरा गाँव सवा सौ-डेढ़ सौ किलोमीटर दूर था। दूसरी बात वहां से कोई सीधी बस वगैरह नहीं जाती थी। आने-जाने में दो-तीन दिन खराब हो जाते थे। इसलिए उस दिन गाँव जाना ठीक नहीं समझा। दूसरे दिन स्कूल खोलने की बात मेरे मन में दृढ़ थी। महिने भर का वेतन लेकर भी मैं स्कूल बंद रखता, ऐसी बेईमानी मैं, उस समय तो कर ही कैसे सकता था। इसलिए चल पड़ा बेझिझक उमरिया गाँव की ओर। रुपये मैंने पेन्ट की अंदरवाली जेब में रख लिए थे।

दिन अस्त हो जाना निश्चित था। जाड़े के दिनों में छः बजे ही अंधेरा छाने लग जाता है। पौने छः बजे करीब हरनावदा से पैदल रवाना हो गया था मैं। दिन में भी दहशत पैदा कर देने वाला बीहड़ रात में कितना डरावना हो जाता होगा? इसका सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। सियार, हिरण, खरगोश आदि जंगली जानवर इधर-उधर विचरण करते दिखाई देने लगे थे। शेर, चीते आदि मिल जाने का डर हृदय के एक कोने में बैठा था; जो उस समय अधिक गहराने लगा। चोर डाकुओं का भय तो था ही। रात के अंधेरे में मुझे एक चीज का बिलकुल भी डर नहीं था। वह थी चुड़ैल, डायन या

भूतप्रेत! क्योंकि मैं उन दिनों गौतम बुद्ध के अनात्मवादी विचार से बेहद प्रभावित रहा। सोचता कि पंचतत्त्व से रचा शरीर अन्ततः पंचतत्त्व में ही विलीन हो जाता है। अतः मरने के बाद, कोई आत्मा शेष नहीं रह जाती। इस विचार से भूतप्रेत का भय तो रहता ही नहीं था। दूसरी बात गाँव के लोगों को बचपन से लेकर उस दिन तक कहते सुना था कि—'डरपै जिन्है ई भूत मलै छै' इस लोकोक्ति के याद आते ही अपने मन को निर्भय बना लेता था। उस समय डर था तो केवल शेर, चीता या चोर-डाकुओं का। अंधेरा मुझे गिरफ़्त में लेता जा रहा था और मैं तेज़ी से रास्ता पार करता जा रहा था। मन की दृढ़ता के सामने प्रकृति की भयावहता भी शर्म अनुभव कर रही थी। अंधेरे में रास्ता भी नजर नहीं आ रहा था। भटक जाने की आशंका थी। पास में टॉर्च भी नहीं थी। किन्तु थोड़ी देर बाद ही चाँद निकल आया था। चाँदनी छिटकने लगी थी। मुझे लगा कि यह शायद रास्ता दिखाने ही आया था मुझे। कुछ तसल्ली मिल गई थी।

ऊँची पहाड़ी पर चलने के बाद पगडंडी नीचे घाटी में उतर गई थी। जहाँ पर चाँदनी का तेज धुँधला गया था। इस डरावनी नीची घाटी में शेर या चीते की आशंका पैदा होना सहज बात थी। अचानक कुछ दूर पेड़ तले एक आकृति दिखाई दी। मैं सावधान हो गया। हृदय पर काबू रखा। आखिर ओखली में माथा देने के बाद मूसल से डरना भी बेकार था। स्थिति से जूझने या संकट को झेलने के लिए मैं तन मन से तैयार था। पीछे भागने से भी कोई फायदा नहीं था। क्योंकि आधे से अधिक रास्ता पार हो चुका था। फिर शेर या चीते से ज्यादा दौड़ा भी तो नहीं जा सकता। बहुत से लोग डरावनी आकृति से मुँह फेर लेते हैं। अतः उन्हें और अधिक डर लगता है। जबकि असमंजस वाली स्थिति के बाद भयानक लगने वाली आकृति को ध्यान बांधकर देखना मेरी आदत है। इससे संशय खत्म हो जाता है। असलीयत का पता चल जाता है और मन से डर भी निकल जाता है। ध्यान से देखने पर स्पष्ट हुआ कि पेड़ के नीचे शेर-चीता नहीं वरन् एक आदमी ही था। बोतल को मुँह से लगाकर संभवतः शराब ही पी रहा था। मैं घबराया। सुना था कि इधर कंजर जाति के लोग रात में चोरियाँ करते थे। सोचा शायद वही हो। अथवा कोई डकैत? मैं असमंजस में था। न आगे बढ़ सकता था और न ही वापस भागकर घाटी चढ़ सकता था। मैंने सोच लिया कि आज तो लूट ही लिये! जिन्दगी में पहली बार तो रुपये हाथ में आये थे और वे भी छीन लिये जायेंगे। रुपये से तो रुपये रहे, प्राण भी बच पायेंगे या नहीं? कुछ भी निश्चित नहीं था। सुना था कि इस इलाके में एक बार लुटेरों ने एक कम्पोण्डर को लूट लिया था। मारा-पीटा भी बहुत। कपड़े-लत्ते सब उतरवा लिये थे। बिचारा नग्नावस्था में लुकता-छिपता गाँव में आ पाया था। बिलकुल वैसी ही घटना मेरे साथ भी घटने वाली थी। मैं भयभीत तो हुआ, पर जो कुछ अनहोनी होने जा रही थी, उसे झेलने की मानसिकता भी बना चुका था। उस आदमी की नजर मुझ पर पड़ चुकी थी। अतः तुरंत बोल पड़ा—'कुण हेगो रे? किते जा'रयो?' मैं ठिठक गया। मेरे पास कोई बेग, थैला कुछ नहीं था।

इसलिए मैं राहगीर नहीं लग रहा था। शायद मैं भी उसे चोर-लुटेरा ही लगा होऊँ और यही मैं चाहता था। इसी बात से मेरा भय कम हो गया था। मैं उसके पास चला गया। वहाँ कुछ ही दूरी पर दो जने एक दूसरे से चिपट कर छोले के पत्तों पर पड़े हुये थे। मेरे वहाँ जाते ही दोनों अलग-अलग हो गये। एक जना लाठी हाथ में लेकर मेरे ही पास आ गया। मेरी घबराहट बढ़ गई। माजरा समझ में नहीं आ रहा था। वे कुल मिलाकर तीन प्राणी थे—दो शराबी और एक स्त्री। औरत कोई राहगीर तो नहीं थी। तो वह कौन हो सकती थी? कहीं किसी को जबरन भगा कर ले आये हों? परन्तु औरत की ओर से कोई आपत्ति प्रकट न किये जाने पर मुझे उससे कोई लेना-देना नहीं रहा था। ओढ़नी से बदन ढँक कर नीचा मुँह किये वहीं बैठी हुई थी वह। सुना था इधर 'बेडनिया' और 'कंजरिया' रुपये लेकर लोगों का मनोरंजन किया करती थी। परन्तु मुझे नहीं लगा कि वह कोई कंजरी थी। बेडनी को मैं जानता ही न था। मैं खड़ा-खड़ा न जाने क्या-क्या सोचे जा रहा था! तभी एक शराबी मुझसे बोला—'किठै सूं धाड़ो पटक के आयौ भइया?' मैंने तुरंत उन्हीं की जुबान में जवाब देने की कोशिश की—'पटक्यो कोनै! अब जास्यो हूँ चोरी करबे कूं!' सुनकर वे खुश हो गये। एक ने कहा—'अरे यो तो आपणो ई भाई है।' दूसरा बोला—'बैठ इत्तै दारू पी लै।' मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं रहा। अगर मैं यह कहता कि मैं शराब नहीं पीता तो वे समझ जाते कि मैं चोर नहीं हूँ। लेकिन उस समय शराब भी नहीं पी सकता था। मेरे पास वेतन था। मदहोश करके वे मेरी तलाशी ले सकते थे। तभी मुझे एक बात याद आ गई। उमरिया गाँव के एक सज्जन ने मुझे बीस रुपये दिये थे। कहा था कि मैं हरनावदा से अंग्रेजी शराब का एक पव्वा ले आऊं। हालांकि वे महाशय शराब नहीं पीते थे, किन्तु अपने बच्चे को उच्च कोटि की शराब का 'पाणा' देते थे। उनका मानना था कि इससे बच्चों को निमोनिया नहीं होता। खैर, कुछ भी हो। मैंने झिझकते हुये शराब की दुकान पर पहुँच कर एक पव्वा ले लिया था और पेन्ट की बगल वाली जेब में रख लिया था उसे। यही शराब का पव्वा उस समय मेरे लिए वरदान साबित हुआ। मैंने जेब से निकाल कर उन दोनों डाकुओं (शराबियों) को थमा दिया। और कहा—'ल्यौ म्हारी आडी सूँ अंगरेजी दारू पिओ। म्हारै जल्दी है। म्हूँ चालूं हूँ।' यह सुनकर दोनों एक साथ बोल पड़े—'अरे, वाह! वाह!! थोड़ो ठैर भाई! थन्हैं म्हाँकै तांई अंगरेजी दारू दियौ। तू भी तो मौज मार जा। लुगाई बैठी है इत्तै।'

पुरुष की बहुत बड़ी कमजोरी होती है औरत। स्त्री के भोग का लोभ अच्छे-अच्छे पुरुषों का सत डिगा देता है। फिर अचानक भूखे की पत्तल में गुलाब जामुन आ पड़े तो क्या प्रतिक्रिया हो सकती है? किन्तु स्थितियाँ और परिस्थितियाँ गुलाब जामुन के मिठास में भी कड़वाहट घोल देती हैं। उस समय मैं जिन परिस्थितियों से जूझ रहा था, वे कम खतरनाक नहीं थी। या फिर वह खतरनाक स्थिति ही मुझे भ्रष्ट होने से बचा रही थी। मेरे दिल और दिमाग पर तो अगले दिन समय पर स्कूल खोलने की धुन सवार

थी। वेतन को सुरक्षित घर ले जाने की लालसा थी। बस मैंने उन तीनों अजनबी स्त्री-पुरुषों को उसी हालत में वहीं छोड़ दिया और मैं तीव्र गति से आगे बढ़ गया था। एक खतरनाक अनहोनी टल गई थी। घाटी से निकल कर पुन: ऊँची पठारी पर आ गया था। मैं अब निश्चिन्त था। परन्तु एक बात रह रह कर उठ रही थी, कि वे लोग उस औरत को कहाँ से और कैसे लाये थे? क्या मुझे इसकी इत्तला थाने में करनी चाहिये? परन्तु आसपास कहीं थाना भी नहीं था। सोचा गाँव वालों से ही जाकर कह दूँगा। उन गाँवों के अधिकांश लोग डाकुओं के भय से लाइसेंस वाली बंदूकें घरों में रखते थे। आ जायेंगे एकत्र होकर और उस बिचारी असहाय स्त्री को बचा लेंगे। सोचता आ रहा था मैं। ठंड ज्यादा बढ़ गई थी। सियार मस्ती के मूड में आवाजें कर रहे थे। तभी मुझे याद आया कि यहीं पास में उस बूढ़े किसान का खेत, कुआ और झोंपड़ी थी। मैं तुरंत वहाँ जा पहुँचा। बूढ़ा किसान 'धूणी' ताप रहा था। मैंने अपना परिचय दिया। वह झट पहचान गया। बोला—'गुरुजी! इतनी रात में यां? मैंने सहजता से कहा कि हरनावदा से ही लेट हो गया था। सुबह स्कूल भी समय पर खोलनी है न! इसलिए वहाँ नहीं रुका। बूढ़े किसान ने कहा कि मैं अब यहीं ठहर जाऊं। उमरिया पास में ही था अब। मैं भी थका हुआ था। उमरिया भी चला जाता तो वहाँ भी अपने बालबच्चे कहाँ थे? जो पाँव दबा देते या माथे पर विक्स की मालिस ही कर देते। अत: मैंने उस बूढ़े किसान की झोंपडी में ठहर जाना ही उचित समझा। वृद्ध किसान ने मेरे लिये ओढ़ने-बिछाने को गुदड़ी और पुरानी रजाई दे दी थी। रोटी के लिए भी पूछा उसने। घर आये हुये को भूखा न सोने देना हमारी संस्कृति का श्रेष्ठ लक्षण जो है। मुझे विश्वास था कि वह किसान इतनी रात को भी मेरे लिए दालबाटी तैयार कर सकता था। मैं अपने लिए दूसरों को परेशान करना कभी नहीं चाहता। भूखा होने के बाद भी मैंने झूठ बोल दिया कि हरनावदा होटल पर खाना खा लिया था। हालांकि मैं होटल पर खाना खाकर ही चलता, परन्तु दिन अस्त होता देख मैं बिना खाये ही चल पड़ा था। सोचा था कि उमरिया पहुँच कर ही दो चार चपातियाँ बना कर खा लूँगा। अथवा केतली में रखे दूध में साबूदाना उबाल कर पी लूँगा। परन्तु मैं नहीं जानता था कि मुझे आज उस बूढ़े किसान का मेहमान बनना पड़ेगा। खाना खाने की बात कहने के बाद भी बूढ़ा किसान एक लम्बे पीतल के गिलास मे दूध ले आया भीतर रखी हांडी (मिट्टी का पात्र) में से उंडेल कर। वह मुस्कराता हुआ बोला—'गुरुजी! यो थोड़ो सो दूध है। इन्हें पील्यो यां। पाछै सो जाज्यो साता सूं। कांई पतो भूखा ई होवै?'

मैंने उसका मन रखने के लिए दूध पीया। बिलकुल ठंडा दूध। ऊपर से गुड़ मिला हुआ। गुड भी भलीभांति पिघल नहीं पाया था। ऐसा दूध मैं पहली बार पी रहा था। सच है कि प्रेम के सामने गोबर भी गुड और गुड भी खाड बन जाता है। मैंने उसे पी लिया। बाद में सारी घटना उस किसान को बताई। किसान को कोई आश्चर्य नहीं हुआ था। क्योंकि वैसी घटनाएँ तो उधर आये दिन होती ही रहती थी। फिर भी मैंने

उस आरत के बारे में जानना चाहा। तो किसान हंसकर रह गया। बोला—'होवैगी कोई सांटण! रुपिया ले के बिक जावै। आप भली करी जे उणां रै चक्कर में कोनी आया....।'

मैं विस्फारित नैत्रों से आसमान के तारों को देखने लगा। जो झोंपड़ी के छपरे में बिछी खटिया से साफ दिखाई दे रहे थे। ऐसे लग रहे थे मानो श्यामपट्टिका (स्लेट) पर सफेद बत्ती से किसी विद्यार्थी ने बारहखड़ी लिख दी हो।

कुछ ही देर बाद मेरी पलकें मुंद गई थीं। ●

सन्त विनोबा पाटन पधारे

शकुन्तला 'रेणु'

जून सन् 1960 की बात है राजस्थान में भूदानी नेता विनोबा भावे पदयात्रा पर निकले थे। उस समय मैं झालावाड़ जिले में समाज कल्याण की उपाध्यक्षा के रूप में कार्यरत थी। एक दिन बड़े सवेरे भाई रामनारायण जी सक्सेना बी.डी.ओ. मेरे घर आये और बोले बहिनजी संत विनोबा झालावाड़ की सीमा में प्रवेश कर रहे हैं; हमको मंडावर चलकर उनकी अगवानी करना है। जीप तैयार है, चलिये। मैं और मेरी माँ तुरंत तैयार हुए और हमारे साथ बालक गोविंद मेरी माँ की गोद में। हम सब संत की अगवानी के लिये चल पड़े। मंडावर पहुँचकर भावुक जनता के साथ हमने नतमस्तक हो संत की अगवानी की। लक्ष्मण मंदिर में संत को उतारा दिया। उस समय वे कुरान, गीता, बाइबल, संत वाणियों का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे थे। मुझको उनकी यह रचनाधर्मिता बहुत ही भली लगी। मंडावर में मेरी मां ने शिशु पौत्र के साथ ग्यारसी जीजी के घर में विश्राम लिया और सायंकालीन प्रवचन में सम्मिलित होकर हम लोग पाटन लौट आये।

दो दिन बाद संत विनोबा झालरापाटन पधारे। उनके साथ भूदानी नेता भाई श्री जवाहरलाल जी जैन व काकाश्री गोकुलभाई भट्ट भी थे। संत को स्थानीय लक्ष्मीनिवास में उतारा दिया गया। यहीं पर उन्होंने सर्वोदय संघ की व भूदान समिति की विशेष बैठक बुलाई। इन अन्तरंग परिषदों में शामिल होने की दादा (भाई श्री जवाहरलाल जी जैन) ने मुझे विशेष अनुमति प्रदान की। दोपहर में बाबा (संत विनोबा) अपने कक्ष में अकेले बैठे थे। वहीं मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने बाबा से पूछा, 'बाबा, स्त्रियों का विशेष कार्यक्षेत्र क्या हो और उन्हें देश के लिए किस प्रकार से उत्सर्ग होना चाहिये?' बाबा ने सहज भाव से कहा, 'बेटी, मैंने स्त्रियों के ही लिए एक पुस्तक लिखी है, तुम उसे पढ़ो और प्रेरणा ग्रहण करो।'

बाबा के पेट में अल्सर होने के कारण उनका दैनिक भोजन शहद-दही था। एक मद्रासी महिला उनकी यह भोजन व्यवस्था करती थी।

झालरापाटन में आकर जब बाबा को यह पता चला कि इस नगरी में एक व्यक्ति है, जिसने महात्मा गांधी को हिन्दी की दीक्षा दी है और राष्ट्र-निर्माण में अपने ढंग से कार्य किया है जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सम्पर्क में रहे हैं और साहित्य एवम् संस्कृति के क्षेत्र में जिनका भारी योगदान रहा है तो बाबा ने उनसे मिलने की

इच्छा प्रकट की। सायंकाल यह संदेशा लेकर भाई श्री जवाहरलाल जी जैन और काकाश्री गोकुलभाई भट्ट बापूजी के पास आये। बापूजी ने प्रसन्नता पूर्वक उनका स्वागत किया।

दूसरे दिन भोर में चार बजे का समय सत विनोबा झालरापाटन से बोंदा बोरदा की तरफ प्रस्थान करने वाले थे, पदयात्रा प्रारम्भ हुई। चौपड़िया बाजार तक सभी लोग बाबा के पीछे-पीछे पदयात्रा में शामिल हुए और चौपड़िया से ही बाबा हमारे घर की ओर चल पड़े। द्वार पर जोर से आवाज आई—'जय जगत' और हम सबने खड़े होकर बाबा को नतमस्तक नमन किया। बाबा बापूजी गिरधर शर्मा 'नवरत्न' चारपाई के निकट आकर बैठ गये। उन्हीं के साथ धरती पर बिछी चटाई पर भाई श्री जवाहरलाल जी, काकाश्री गोकुलभाई भट्ट एवम् बाबा के साथ आये अन्य भूदानी बालक भी बैठ गये। मैंने सुना, बापूजी में और बाबा में महात्मा गांधी के विषय में, रवीन्द्र ठाकुर के विषय में, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार समिति के विषय में और भारत की एकसूत्रात्मक भाषा के विषय में लगभग एक घंटे तक वार्तालाप होता रहा।

बाबा के साथ आयी मण्डली ने मुझको डाकुओं के क्षेत्र में काम करने के लिये माँगने का प्रस्ताव रखा, लेकिन मेरे नेत्रहीन वृद्ध पिताश्री ने प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। वार्तालाप समाप्त होने पर बाबा उठ खड़े हुए। मेरे पिताश्री ने उठकर उनको नमस्कार किया। 'जय जगत' की ध्वनि को गुंजाते हुए बाबा की पदयात्रा पुनः प्रारम्भ हो गई। ●

सुरजा

मनोहरसिंह राठौड़

संसार को अथाह सागर हमारे महापुरुषों ने बतलाया है और जीवन को नाव। इस नाव के चलते न जाने कितने टापू, ठहराव आयें और भांति-भांति के लोगों, जीव-जन्तुओं से परिचय कब, कहाँ हो जाये, कहना कठिन है। कुछ के साथ वर्षों तक रहने के पश्चात् भी परायेपन का शंखनुमा आवरण लिपटा रहता है। कुछ पात्र एक-दो बार मिलने पर हमारे अभिन्न अंग बन जाते हैं जिन्हें अलग करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य होता है। उनका अनायास मिलना स्मृतियों में स्थायीवास कर लेता है। कभी-कभी मन के वातायनों से स्मृतियों की वीथियों में झांकने पर वह ज्यों-का-त्यों बैठा मिल जाता है। ऐसे ही एक बार मेरे जीवन में सुरजा का आगमन हुआ था।

मैं भाई साहब के यहाँ गया हुआ था और वह दनदनाता हुआ गोली की तरह घर में घुसा। मैं अवाक् देखता रहा कि कोई बाहरी व्यक्ति ऐसे आता है क्या? मैं जिज्ञासा की परत को हटाता उससे पहले ही वह बिना भूमिका के अभिवादन कर के अपनी राम कहानी कहने लगा, 'इस माह उसके अधिक रुपये कट गये जिन्हें लौटाने में दफ्तरवाले ढील बरत रहे हैं आदि-आदि।'

पहली दृष्टि में ही वह कठफोड़वा की चोंच सरीखे अपने कठोर व्यक्तित्व के बल पर मेरे भीतर कोटर बना कर मूर्तिमान हो गया। नाटे कद, दुर्बल काया का ढांचा, खाकी कमीज व पायजामे में लिपटा हुआ वह दक्षिण भारतीय युवक सी झलक देता था। छेद निकाल कर उल्टी रखी गयी कौड़ियों सदृश्य आँखें, लम्बी घनी भौंहों से आच्छादित होते हुए अपनी ओर आकर्षित करने की दिव्य क्षमता रखती थी। दाड़िम के दानों से लाल मसूड़ों में श्वेत उज्ज्वल दंतपंक्ति के चारों ओर होठों की सुर्ख लालिमा पर देह का सांवला पहरा न होता तो उनके छू-मन्तर होने का अंदेशा था।

सेही के कांटे से उभरे तैल सने बालों को जब-तब जांच-परख लेने की उसकी आदत के बावजूद वे उन्नत भाल को और ऊंचाई प्रदान करने का मोह नहीं छोड पाते थे। एक खास अंदाज में बालों में अंगुलियां फिरा कर गर्दन को झटका देना किसी फिल्मी नायक की याद ताजा कर जाता।

उस दिन उसने जाते-जाते यही पूछा था कि अभी रुकोगे साहब, और मेरे हांमी भरने पर उसकी धवल दंतपक्ति कुंदकली की माला-सी एक बार चमकी थी।

उसके बाद जब-जब मैं उस कस्बे में गया वह बराबर मुझ से मिलने आता या मेरी स्मृतियों में आसन जमाये कौड़ियाले साँप-सी चमकती आँखों से मुझे निरन्तर घूरता हुआ दृष्टिगोचर होता।

मेरे भीतर ही क्या वह सभी के घरों व हृदय में इसी प्रकार पैनेपन से गहरे पैठ चुका था। जिसे असली नाम सूरज मल से एक बार शायद कोई न जान पाये, मगर सुरजा सभी का अपना था। हृदय में अपनत्व व निर्मलता की आभा सांवले रंग में छुपी नहीं रह सकती, बल्कि अधिक मुखरित होकर अपना अस्तित्व प्रकट कर देती है। इसलिए सुरजा का सांवला रूप कभी नहीं खटका, बल्कि प्रिय ही रहा कृष्ण सा।

परिचित का परिवेश शनैः-शनैः अपने आप हमारे भीतर पसरता चला जाता है उसी प्रकार मुझे उसके बारे में अनेक बातें पता चलती गयीं। बचपन में उसका विवाह अबोध रूप में ही गुड्डा-गुड़िया के विवाह के समान खेल-सा कुटुम्बजनों ने रचाया था जिसके बल पर वह कभी बहू को लाने, घर बसाने की बात करता और कभी किशोरों की ठिठोली का जवाब देता कि भई अपने राम तो कुंआरे हैं, आप लोग भी मसखरी कर लो। यों त्रिशंकु बना जी रहा था, मगर हृदय में कहीं गहरे एक टीस उठती जब कभी कोई कह बैठता कि तेरा विवाह सच में हुआ है या घरवाले यों ही बहका कर तुझ से काम करवाने को कहते हैं? तब संशय के सर्प दंश से आहत उसका मन अनिश्चय के भंवर-जाल में अटक जाता कि भैया-भाभी सचमुच वर्षों से मूर्ख तो नहीं बना रहे। हर बात का एक दिन अंत होता है। चाहे वह दुःखान्त हो या सुखान्त। ऐसे ही एक दिन घूंघट काढ़े लाल गठरी जैसी नन्ही गुड़िया सी बहू साथ लिये सुरजा चरण स्पर्श करवा गया। उसके मन के सूने आंगन में भावी जीवन की कल्पनाओं का संसार बसने लगा।

जीवन में आये इस परिवर्तन से अक्सर लोग बदल जाते हैं। उनके व्यवहार, काम करने के ढंग, बोल-चाल में स्पष्ट बदलाव के दर्शन किये जा सकते हैं, मगर सुरजा जस-का-तस रहा। अपनी ड्यूटी में पूरी मुस्तैदी और बताये गये कामों में कभी कोताही नहीं बरती। परायी पीर में पगा रहने वाला सुरजा एक हांक में दौड़ा आता व अंगद के पैर सा आगे बढ़ाये गये एक पैर पर जोर देकर कहे गये काम को सुनता जाता, बीच-बीच में खिलौने शेर की तरह अपनी गर्दन जल्दी-जल्दी हिलाये जाता। बात पूरी होते-होते वह पवन वेग से उड़ जाता उस काम को करने के लिए। यदि बात आधी-अधूरी सुनने से काम आधा रह जाय इसकी चिन्ता न कहने वालों को थी और न सुरजा को क्योंकि दुबारा दौड़ पड़ने को वहाँ आलस्य को तनिक भी स्थान न था।

किसी घर को जाने वाली बिजली की लाइन का फ्यूज खम्भे से उड़े या बाजार से सौदा-सुलफ लाना हो या फिर किसी भारी वस्तु को इधर-उधर खिसकाना हो, सभी की रामबाण दवा वही था। घोर गरीबी की चादर नीचे सांसों की सितार बजाते हुये बढ़ने वालों से स्कूली शिक्षा डरी-सहमी एक दूरी बना कर निकल जाया

करती है वैसे ही सुरजा से शिक्षा किनारा कर गयी। अपने साधारण अक्षर-ज्ञान के बल पर अनपढ़ों में प्रकाण्ड पंडित का आसन सहज ही हथिया लेता। जब किसी आदेश को कक्षायें पढ़ाते प्राध्यापकों के समक्ष घुमाता तब उनके द्वारा लगाई जाती व्यर्थ की देरी से वह उतावला हो अपने संचित कोष से ज्ञान बघारने लगता और ब्रह्मज्ञानी-सी भाव-भंगिमा में चारों ओर देखता। सभी को उससे काम रहता और निश्छल सुरजा को लड़कों भरी कक्षा में झिड़कना किसी भी कीमत पर उचित नहीं लगता। इसी मौन समझौते के बल वह सभी का प्रिय बना हुआ था।

कुछ घरेलु कारणों से दो वर्षों के लिए मेरा परिवार भाई साहब के यहाँ रहा, तब मेरा बार-बार वहां जाना और सुरजा से यदा-कदा मिलना हो जाया करता। उससे मिलने पर बातों के सिरे टटोलने की आवश्यकता किसी को न रहती। वह स्वयं अनेक बातों का पिटारा था। साधारण-सी बात को असाधारण ढंग से प्रस्तुत करने का अनोखा कलाकार था जिसमें मनोभावों के अनुकूल भाव-भंगिमा से बात को हृदयंगम करवाने की अद्भुत क्षमता का धनी सुरजा मेरा अत्यन्त निकट का व्यक्ति बन चुका था। आज के व्यस्ततम जीवन में आते-जाते अनमने भाव से हम दूसरों की बातें सुनने के आदी हो चुके हैं। ऐसे में निःस्वार्थ भाव से पूरी तन्मयता से सुनने वाले मुझ जैसे श्रोता को पाकर वह निहाल हो गया और मुझे कही गयी बात जगजाहिर न होगी, इस बात को जानकर वह हर राज को मुझ तक अवश्य पहुँचाने लगा।

सुरजा की बहू के गुड़िया जैसी मटक-मटक कर चलने की अदा से बालक, किशोर, युवा, वृद्ध कोई कौतूहल से, कोई सहज रूप से व कोई मनोरंजन के रूप में प्रसन्न था। इस घटना से यदि इस संसार में कोई अप्रसन्न था तो वह उसकी भाभी थी, जो घर-बाहर के सारे कामों को लक्ष्मण की तरह झुकी निगाह से करने वाले एक मुफ्त के नौकर को खो चुकी थी, जो हर माह तनख्वाह लाकर भी दिया करता था। वह नयी बहू को दिन भर चाबी भरती जाती जिसकी परिणति सांझ को सुरजा व उसकी बहू के वाक्युद्ध के रूप में होती। उन्मुक्त पवन सा विचरण करता, दूसरों के काम करने में सुख मानने व पढ़े-लिखों के बीच शांतिपूर्वक जीवन-यापन का अभ्यस्त अब प्रपंचों के थपेड़ों, विवाद के घेरों, कलह की कलुषित कालिमा और तीस बरस के नौसिखिया गृहस्थ जीवन से तिलमिला जाया करता। जहाँ-तहाँ की सलाह से प्राप्त गुरुमंत्रों के मारक प्रभाव से वह भाई के परिवार से अलग अवश्य हो गया, मगर भाभी की भेदन दृष्टि से बिंधती बहू के व्यक्तित्व को दिन भर नौकरी पर रहते कैसे बचा कर रख पाता।

कभी-कभी एक छोटी सी घटना सम्पूर्ण जीवन को झकझोर कर एक ऐसे मोड़ पर ला पटकती है जहाँ से केवल विस्मय भरी आँखों से पलट कर टुकुर-टुकुर देखा भर जा सकता है; मगर वहाँ से जीवन को बेबसी में नये सिरे से जीना प्रारम्भ करना पड़ता है, ऐसा ही सुरजा की लहराती जिंदगी में हो गया। उसके पड़ौसी ने देव-मनौती

को पूर्ण करने के लिए प्रसाद व रात्रि जागरण का आयोजन किया। विवाह के आयोजन में लाखों रुपये खर्च कर मजदूरों को चाय पिलाने में कंजूसी बरत कर हम किफायत ढूढ़ते हैं वैसे ही उन लोगों ने भजन गायकों के आने-जाने-खाने, सुल्फे-गाजे-भांग-चाय, गर्मी से बचाव को छिड़काव, दरियों की व्यवस्था की तथा भजन मंडली को रुपये लुटाये जा रहे थे मगर किफायत के लिए खम्भे से बिजली का तार जुड़वा कर सुरजा को सम्भालने की जिम्मेदारी सौंप रखी थी। सभी भजनों में मस्त थे मगर सुरजा का ध्यान बार-बार खम्भे पर जा रहा था।

आधी रात तक चले कार्यक्रम के बाद सभी जा चुके थे। सुबह प्रसाद रूपी भोजन का निमंत्रण हंस-हंस कर दिया गया था। सुरजा खम्भे पर चढ़कर तार हटा रहा था कि एक झटका लगा और वह भूमि पर धड़ाम से आ गिरा। जिन्होंने यह आयोजन करवाया था उन्होंने इसे मृत जान कर किवाड़ बन्द कर लिये। कुछ देर में होश आने पर उठने की चेष्टा में वह फिर गिरा। उसकी पत्नी व भाई-भाभी ने ले जाकर खटिया पर लिटाया। फिर एक के बाद दूसरे, कई अस्पतालों में ले जाया गया।

रीढ़ की हड्डी में गहरी चोट के कारण शरीर झुक गया, सीधे खड़े होकर ठीक से चलने की असमर्थता ने हाजमा बिगाड़ दिया। श्याम वर्ण तिरोहित होकर काला-कलूटा, दुर्बल, लाठी के सहारे मुड़-तुड़ कर चलने में अष्टावक्र जी से होड़ लेने लगा। जो आँखें हँसी की फुंहार लिये हुआ करती वहाँ एक नीरवता, कचोट, पीड़ा, ऊब, आक्रोश का मिला-जुला स्थायी भाव आ बसा।

मैं लम्बे समय वहाँ न जा सका। इस घटना की जानकारी मुझे भाई साहब के पत्र से मिली। विपत्तियाँ एक साथ आती हैं और अपने साथ नाना प्रकार की समस्याओं का भ्रमजाल बुन कर लाती हैं। पिछले दिनों मैं वहाँ गया तब वह एक दुकान पर बैठा था। मुझे देखते ही उसके हाथ जोड़ने के साथ ही मन की टीस छलक कर करुणा जल नेत्र के कगारों पर बिखेरती मेरी ओर सवेग बढ़ने लगी। मैं आर्द्र हो दूसरी ओर देखते हुए पूछ बैठा कि कैसे हो? उसने कहा—आप बैठो। आपके पास समय है न? फिर रूआंसा होकर बात पूरी की—मेरे पास अब कोई बैठना पंसद नहीं करता।

उसके द्रवित हृदय से याचना में सराबोर करुणा के इन थोड़े से शब्दों के रज्जु-बंधन में मैं बंध गया। हिल डुल न सका। भीतर तक मैं कांप उठा—अरे वह मस्तमौला, मेरे मन-आंगन में वास करने वाला सुरजा कोई और है, यह कोई दूसरा है। उसने मुझे बताया जिसका सार यह है कि—जिन लोगों के लिए खंभे पर चढ़ा था, वे पुलिस के भय से यह मानने को तैयार नहीं हुये कि उनके लिए बिजली चोरी करने वह चढ़ा था, मदद करना तो दूर की बात है।

समय-समय पर भाभी द्वारा अपनत्व जताकर दी गयी सीख से गुमान के शिखर पर चढ़ी उसकी पत्नी गृह त्याग कर चली गयी कि अब यह किस काम का, मैं क्यों इसके पीछे अपना जीवन खराब करूं? पेड़ के सूखते ही लतायें साथ छोड़ने लगती

हैं, गिरती दीवार से हर कोई बच कर निकलना है, मगर सुरजा कोई पाषाण मूर्ति न था जिस पर इस आघात का असर न होता। पत्नी छोड़ जाय विपदा की इस घड़ी में जब कि सहारे की सबसे अधिक आवश्यकता थी और तन का कपड़ा बैरी होने की इस स्थिति में वह काल के क्रूर थपेड़े खाता संसार के विकराल रूप को बिटर-बिटर ताक रहा था। विपदा में मानवीय संवेदनायें बढ़ जाया करती हैं। दूसरों की अनहोनी घटनाओं में चट्टान सा मदद को खड़ा रहने वाला सुरजा इन मानवीय प्रहारों से मोम बन चुका था और अतीत व वर्तमान के किसी भी सुकोमल दागों को या इन प्रहारों को याद कर बिसूरने लगता।

जिस शिक्षण संस्था में वह कार्यरत था उससे हजारों स्नातक ज्ञान अर्जित कर उच्च पदों पर पहुँच चुके थे उसी संस्था में वर्षों की सेवा की याद दिलाकर उसने हल्का-फुल्का काम देकर रख लेने की गुहार की थी। याचक की गुहार और दाता का दुलार या आक्रोश से उसे विदा करना वर्षों का सनातन सम्बन्ध है। संस्था से उसे विदा हो होना पड़ा। उसने झरते आंसुओं की लड़ियाँ पिरोते मुझे बताया कि अब मामूली जानकार एक सेठ की कृपा से कस्बे के बाहर की एक प्याऊ पर दिन भर एकान्तवास करते हुये पानी पिलाना होता है। दो जून की रोटी अनमने भाव से देने वाली भाभी में अन्नपूर्णा के दर्शन करने की उसे आदत हो गयी है। जिस दिन वेतन लाकर वह भाभी के हाथ पर रखता है उसके मुखारविन्द पर पुरुषार्थ की हल्की सी रेखा खिंच जाती है बाकी दिनों वह निरीह बालक बना हर छोटे-बड़े की बात में हामी भरता जो लेता है।

उसके जीवन से अक्खड़-फक्कड़पन तिरोहित हो चुका है, अब याचना की चादर ओढ़े आगन्तुक को कोहनियों तक लम्बे हाथ जोड़े सुबह-सुबह प्याऊ तक किसी ऊंट गाड़े या उधर जाने वाली जीप की प्रतीक्षा में वह सूनी आँखों से रेतीले मार्ग को ताकता रहता है। वे सभी लोग जिनके घरों में वह दनदनाता जाया करता था और वे हर मौसम, कैसे भी समय, बीमारी जैसी स्थिति का विचार किये बिना अपनत्व जता कर काम के लिये बुला लिया करते थे, अब उसे बैठा देखकर आँखें फेर कर चल देते हैं तब आँखों की कोर गीली होकर कह उठती है—सुरजा स्वार्थी संसार को देख लिया न ?

मुझे उसके अंगद जैसे पैर जमा कर चहकते बात करना बरबस याद हो आता है। नियति की क्रूरता से विपदाओं के लगे इस अम्बार को मेरे हृदय की कोमलता के बौनेपन से न बुहार पाने की असमर्थता से व्यथित हो जाता हूँ। पनियाली आँखों को सहेजता लौट आता हूँ। काफी दूर आकर मैं एक बार मुड़ा, वह टकटकी लगाये मुझे देख रहा था। वर्षों हो गये याद करते हो वह मुझे वैसे ही बैठा दिखायी दे जाता है।

●

एक गुरु-भक्त की भावुक भूल

ब्रजमोहन 'सपूत'

सन् पचास-पचपन के बीच की बात है। हमारे प्रातःस्मरणीय सद्गुरु समर्थ दीन बन्धु दयाल की नान्दसा (जिला भीलवाड़ा) के हर निवास स्थान को छोड़कर, बांसा (जिला राजसमन्द) के निर्माणाधीन आश्रम में स्थानान्तरित होने की तैयारी चल रही थी। तब स्वाभाविक तौर पर भीलवाड़ा क्षेत्र के सत्संगी भक्तों के मन में अपने आराध्यदेव सत्गुरु के बिछोह की विरह वेदना पल रही थी। एक दिन हर निवास आश्रम के दरवाजे में बड़ी प्रसन्नमुद्रा में दाता दयाल विराजमान थे, और दाता दर्शन की उस दिन की उस निराली रूप-छटा पर दर्शनार्थी कुरबान थे। गुरु चरणों में बैठकर सभी सत्संगी निहाल हो रहे थे, पर निकट भविष्य में प्रभु के प्रस्तावित बांसा-प्रस्थान के पीड़ादायक प्रसंग के चलते, दाता दरबार के एक दरबारी गायक-कवि विचारों में डूब कर बेहाल हो रहे थे।

दाता दयाल अक्सर अपने भक्तों को भजन-कीर्तन शुरू करने के लिए एक विशेष मुद्रा में संकेत दिया करते थे और हम कितने भाग्यशाली थे कि इस देव-दरबार के दरबारी गायक की रुतबेवाली जिन्दगी बड़े प्रेम से जिया करते थे। उन दिनों, उस नटवर नागर की असाधारण कृपा से नयी-नयी धुनों के नित-नये भजनों पर भक्तों की लूट पड़ती थी, और साक्षात् स्वयं प्रभु जब सामने बिराजते होते थे, तो आशु कविता फूट पड़ती थी। उन करुणाकर प्रभु का कृपा-भाजन तो शुरू से ही मैं अति अनोखा था, पर उनका कोप-भाजन बनने का अवसर, मेरे लिए बिलकुल नया था, पहला था और अभोगा था। भावुक भक्त को अपनी भजन-शक्ति पर इतना भरोसा था कि निर्णय को अपने पक्ष में बना लूंगा और दाता दयाल को बांसा नहीं जाने के लिये राजी करके मना लूंगा। भगवान तो सदा भक्त के वश में होते आये हैं, तो बाल-हठ जैसी प्रबल धारणा घट में ऐसी गहरी जम गयी थी, कि जब यह घटना घटी तो एक पल के लिए जैसे हवा तक थम गयी थी। हंसी-ठहाकों का आलम एकदम धीर-गम्भीर हो गया।

उस पल सद्गुरु का संकेत पाकर मैं हर निवास के दरवाजे में हारमोनियम लेकर गुरु चरणों में जा बैठा और अत्यन्त श्रद्धाभाव से एक मार्मिक गीत शुरू किया जिसके बोल थे कि 'बांसा मत जा मत जा जोगी'। इस गीत के मुखड़े को ज्यूं-ज्यूं मैं दोहराता गया, वैसे ही सारा वातावरण धीर-गम्भीर होकर गहराता गया, और आगे ज्योंही मैंने अन्तरे को उठाया, तो दाता दयाल क्रोधित होकर स्वयं आसन से उठ गये।

भगवन की क्रोधाग्नि को हम भाँप गये थे और सभी सत्संगी अपने-अपने स्थान पर स्थिर होकर काँप गये थे। आदेश हुआ कि गाना-वाना बंद करो और आगे के लिये इनको पाबन्द करो। भगवन भीतर जाने लगे थे और हम अपनी भावुक भूल पर पछताने लगे थे। जाते-जाते मेरी ओर इंगित करके फरमाया कि कवि-गायक को अपने हाथ-पांव बचाकर लिखना-गाना चाहिये।

गुरुवर क्रुद्ध हो गये तो बांसा के मार्ग मेरे लिये अवरुद्ध हो गये। हंसते-हंसते कुए में गिरने का मुहूर्त टल न सका और एक छोटी सी चाल चूकते मैं बांसा तक चल न सका। सद्गुरु के निश्चय के विरुद्ध निवेदन करने में मेरी भी मत मारी थी और दीपक की लौ से जा टकराने की परवाने की लाचारी थी। तो हर बन्दे को सदा ताकते रहना चाहिये और गुरु आदेश संकेत को सदा आंकते रहना चाहिये थर्मामीटर के चढ़ते-गिरते पारे को। सद्गुरु की इच्छा और आदेश ही सर्वोपरि हैं। दाता दयाल के विधि-विधान और उसकी परम सत्ता को बिना समझे भावुकतावश जो कुछ उस दिन मैंने गाया उसका दंड आज तक भुगत रहा हूं।

दाता की मरजी के आगे खुदगर्जी आडी मत ला।
गुरु राजी बन्दा की बानी बजा बन्दगी गातो जा।।
गुरु किरपा की नीली छतरी शीतल छाया तरुवर की।
सौ बातां की एक बात आदेश पालना गुरुवर की।।

वे दिन, वे बातें

बालकृष्ण योलम्बिया

वे दिन आज भी जब याद आते हैं तब पुलकित और मन प्रफुल्लित हो जाता है। बचपन के ये दिन मेरे उस मोहल्ले में कटे हैं, जिसको काजीपाड़ा कहते हैं। जिस मकान में हम रहते थे, वह पाठक जी का था। इसके सामने ही एक मन्दिर है और मन्दिर की बाईं बगल में मस्जिद। मन्दिर की परिक्रमा तब खुली थी जिस पर लोग बिना किसी भेद-भाव के सर्दी के दिनों में धूप सेकते और गर्मी की रातों में सोते थे। मस्जिद में अखाड़ा था जिसमें मास्टर रामनारायण सिंह जी और मेरे पिता जी कसरत करते थे। यहीं मस्जिद में रहते थे, एक खाँ साहब। अधेड़ उम्र के खाँ साहब से मोहल्ले के बच्चे इतने हिले-मिले थे कि दिन भर उनके पास खेलते रहते थे और वे थे बच्चों के लिए तीर, कमान या और कोई खिलौने बना दिया करते थे। मस्जिद की गोंदियों से गोंदियां तोड़-तोड़कर खिलाया करते थे। तब 'कौमी एकता' का शब्द ईजाद नहीं हुआ था। न कोई अल्पसंख्यक था, न बहुसंख्यक। लोग पाड़े-गुवाड़े को मां का पेट समझते थे, भाई-भाई की तरह रहते थे और बुरे वक्त पर एक दूसरे का साथ देते थे। बाल्या और बजरंगा बशीर मुहम्मद और मजीद के साथ इस धरती की माटी में सने गलियारों में बिना किसी धार्मिक असहिष्णुता के गोलियां खेलते रहते थे। उस वक्त का मुन्ना आज भी पाकिस्तान से आता है तो चन्दा को याद करता है। यह थी उस वक्त की फिजा।

मुझे वे दिन भली भांति याद है जब मेरी मां मुझे चार-पांच वर्ष का छोड़ स्वर्ग सिधार गयी थी। मेरे पिताजी पितृत्व और मातृत्व दोनों की साझेदारी का निर्वाह करते थे। उनकी नौकरी उम्मेद भवन पर थी। उस समय आवागमन के साधन इतने सुलभ नहीं थे। रोज पैदल जाते-आते थे और मुझे छोड़ जाते थे चाचा चांद जी के भरोसे; जिन्हें उन्होंने अपने घर के आदमी की तरह जीना सिखाया था, दिन भर उनके साये में गुजरता था, भूख प्यास लगती तो वे हमारे घर आते और ताला खोलते और मैं खा-पीकर उनके साथ हो जाता। मुझे याद नहीं आता कि वे कभी मुझ पर खफा हुये हों या डांटा-डपटा हो। उनका ममत्व अब भी मेरी आंखों के सामने नाच उठता है। उनके देहान्त से पहले एक दिन मैं उनके पास चला गया था। बड़ी पीड़ा थी उनको आज के वातावरण से। उनकी वाणी से उनकी पीड़ा का अनुमान हो सकता है। बोले—बालकिशन हम भी तो मुसलमान हैं। आज यह क्या हो रहा है?

मन्दिर तब खुले थे। गढ़ के पास एक मंदिर था रंगील मन्दिर। रंगा-चंगा होने से ही लोग उसको इस नाम से पुकारते थे। यहाँ 'भूरसी' लेकर आये कर्मिष्ठ

ब्राह्मण बैठे बतियाते रहते थे और दरबार रिक्शे में बैठकर निकलते तब उन्हें आशीर्वाद देते थे। दूसरी ओर गुजरातियों का मन्दिर है। इसमें वेद पाठशाला चलती थी। गुरु साहब थे गजाननजी। ये सस्वर वेद ऋचाओं का पठन करते और विद्यार्थियों से उनका अनुकरण करने को कहते थे। थोड़ी-सी भूल होते ही टोकते और भला-बुरा भी कहते, पर उनका व्यवहार निष्कपट और खूब सरल था। इतना सरल कि उसमें गर्व-गुमान को कोई स्थान ही न था। मैं नहीं कह सकता कि इसके लिए उन्हें कोई पारिश्रमिक दिया जाता था या नहीं।

यह काजीपाडे का मालियों का मन्दिर है। सावन का महिना आ गया। इसी मोहल्ले में कुछ भगत रहते हैं जो इकतारे पर भजन गाते और बस्ती में से आटा माँग लाते हैं। इनमें रामजी अच्छा गाते हैं, सितार भी बजाते हैं। ग्यारसीलाल तबला बजाता है। मोहल्ले वाले रामजी से नरसी मेहता या 'रुकमणी मंगल' बजाने का आग्रह करते हैं और रामजी कथा आरम्भ कर देते हैं। मोहल्ले के सभी स्त्री पुरुष सावण की फुहारों के साथ कथामृत का भी आनन्द लेते हैं। सरल और सुसंस्कृत जीवन का यह दृश्य आज दुर्लभ है। अब मंदिर चारों ओर दीवारों से घिर गया है। ठाकुरजी के साथ मोहल्ले की भावनाएँ भी बन्दी हो गई हैं। जीवन आज धर्मनिरपेक्षता का भार वहन कर रहा है।

ईद अब भी आती है तब भी आती थी। काजी साहब हाथी पर बैठते थे। राज्य सेकूलर नहीं, सामन्ती था, पर काजी साहब के हाथी के आगे जमना पलटन का बैण्ड बजता था। उनके पीछे शहर के मुसलमान नमाज अदा करने ईदगाह पर जाते थे। काजी साहब लौटकर आते तो हम बच्चे उनके पास चले जाते थे। और वे हमें खर्ची देते थे। कितनी खुशी होती थी तब। उनकी नजर में कोई फर्क नहीं होता था हममें और उनके बच्चों में। काजी साहब जब-तब भौरो अपने हवाले पर जाते-आते तो भन्ता स्टेशन पर मिल जाते तो वे मुझे उसी बचपन के नाम से सम्बोधित करते थे और टिकिट लेते समय और गाड़ी पर चढ़ते समय मैं उनकी सेवा कर देता था उसका जिक्र यहां आकर मेरे पिताजी से करते थे। कैसा ममत्व था तब।

यह जन्माष्टमी आ गई। महम्मद जी पटवा बन्दनवार बनाकर लाये हैं। हमारे दरवाजे पर बाँधेंगे। पिताजी उनसे कुशलक्षेम पूछते हैं। मेरी माँ चलनी में गेहूँ भरकर उनके अंगोछे में रख देती हैं। महम्मद जी उनमें से कुछ दाने चलनी में डाल देते हैं और दुआ-सलाम कर रवाना हो जाते हैं। उनके लड़के सलामत ने भी इस व्यवहार को ताजिन्दगी निभाया। अभी कुछ साल पहले उसका देहांत होने पर ही यह समाप्त हुआ है।

लो ये मोहर्रम आ गये। मास्टर रामनारायण सिंह जी पथ बनेही के साथ अखाड़े में मौजूद हैं। यह मन्नाजी पाडे पटा बुर्ज का अखाड़ा इसके आगे चल रहा है। यह कतैये पाड़े का अखाड़ा है। और, और भी कई। बिना किसी भेद-भाव के ये अपने करतब दिखा रहे हैं। नाहरिया जी ने आदमी को सीधा सुलाकर उसकी नाक पर लौंग

रस दी है और पटा घुमाते-घुमाते लौंग काट दी है। तब किसी के मन में यह सवाल ही नहीं उठता था कि खलीफा कौन है?

हिन्दू मुसलमानों के हेल-मेल का यह अभूतपूर्व दृश्य आज बस हालत में तिरोहित हो गया है जब हम कौमी-एकता का नारा देते हैं, अभियान चलाते हैं, राज नेता रोजा-अफ्तारी के लिये जाते और आयोजन करते हैं। क्या कारण हैं इसके कि इसका प्रचार-प्रसार और तूफान मचाने के बावजूद उस सरल सहज एकता के दर्शन दुर्लभ हैं। मैं समझता हूँ, यह भावना का अन्तर है। इसमें अमृत दृष्टि का अभाव है। साम्प्रदायिकता का आरोप हम हिन्दू पर लगाते हैं, मुसलमान पर लगाते हैं, पर सच तो यह है हमें बाँट दिया है आज की स्वार्थ निहित राजनीति ने जिसने एक को कहना आरंभ कर दिया अल्पसंख्यक, दूसरे को बहुसख्यक। कोई राजनैतिक पार्टी नारा कौमी एकता का दे और अल्पसंख्यक-प्रकोष्ठ आरक्षित प्रकोष्ठ का गठन करें तो एकता का स्वप्न कैसे साकार हो सकेगा? यह तो नारे से किनारा ही करता रहेगा मझधारा में भटकता रहेगा, किनारा पाना कठिन होगा। सहज सरल एकता के लिए हमें अपने राजनैतिक स्वार्थों का मोह छोड़ना ही पड़ेगा। ●

स्मृति-साक्षी वह मरु-निशा

डॉ. कमलाकान्त शर्मा 'कमल'

मानव मन की विचित्रता को मापने का न कोई यन्त्र है न पैमाना। कब यह एक सामान्य सी बात को भी 'हिमालय' मानकर महत्त्व दे बैठता है और कब विराट् महत्व की बात को भी अति सामान्य समझ कर उसके प्रति विरक्त हो जाता है, किन्तु इस सम्पूर्ण यात्रा में प्रायः ऐसे प्रसंग भी आ उपस्थित होते हैं जो सदैव अपनी स्मृति-प्रभा से नित नवीन बने रहते हैं, वर्षों तक।

अभी मुझे राज्य सेवा में आये तीन माह भी पूरे नहीं हुए थे। कल्पना और यथार्थ में अन्तर तो होता है, किन्तु प्रत्यक्षतः किसी स्थान अथवा स्थिति से दो-चार होना पड़े तब पूर्व कल्पित यथार्थ के सभी समीकरण एकदम धुंधले होकर रह जाते हैं, तब मन ही मन जो भाव-चित्र बनता है उसमें कड़वाहट का रंग ज्यादा, मधुरता का कम दिखायी देता है।

राजस्थान का उत्तर-पश्चिमी भू-भाग, मीलों तक फैला विराट् रेगिस्तान, अब तक पुस्तकों में पढ़ता ही आया था इस क्षेत्र के जन-जीवन और भौगोलिक स्थितियों के बारे में, किन्तु जब प्रथम नियुक्ति पत्र मिला तो अच्छा लगा कि निकट से इस प्रदेश को देखने-समझने तथा वहां के लोगों की सेवा का स्मरणीय अवसर मिलने जा रहा है मुझे। मन-मस्तिष्क के किसी कोने में रचा-बसा यह तथ्य भी मुझे क्षेत्र में रहकर चिकित्सा सेवा देने को प्रेरित कर रहा था कि—अभावों से निरन्तर जूझने वाले लोगों के बीच में रहकर दी गयी सेवा का अपना एक आनन्द होता है। उसके आत्म सन्तोषदायी महत्त्व को समझने वाले ही समझ पाते हैं। साधन-सम्पन्न नगरीय चिकित्सालयों में बैठ कर यदि कुछ कार्य किया भी गया तो उसका अर्थ प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष महत्त्व नहीं होगा, इसलिये कि नगरों में जहां अनेकविध चिकित्सा सुविधायें सहज उपलब्ध हैं वहीं नगरीय लोगों के मन में 'तू नहीं, और सही' के वैकल्पिक गवाक्ष भी बहुत होते हैं, यही कारण रहा कि महाविद्यालयीय प्राध्यापकी के प्रस्ताव को ठुकरा कर सुदूर ग्रामीण क्षेत्र में जाकर सेवा देने का मैं एकान्तिक निर्णय ले बैठा, इसमें परिवार के वरिष्ठजनों ने भी आपत्ति नहीं की और न मेरी जीवन सहचरी ने, तो मन की आदर्श उडान दिन प्रति दिन अपने पंख खुलकर फैलाती गयी।

नये वातावरण में, नये लोगों में—जिनकी भाषा, वेशभूषा, व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान, दिनचर्या, व्यवसाय-व्यापार ही भिन्न नहीं थे अपितु संस्कृति, रीति-रिवाजों, त्योंहारों और आध्यात्मिक-आस्थाओं में भी जिनकी भिन्नता थी—मैं अभी

अपने आप को व्यवस्थित नहीं कर पाया था, हाँ इस क्षेत्र के लोग सचमुच जीवन के संघर्षदीप को अपनी सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा से निरन्तरता प्रदान करते हैं—इस तथ्य को मैं भलीभांति निकट से देख-समझ व अनुभव अवश्य करने लगा था। तब यह भी विचार बनता कि प्रकृति के निकट जीने वाला व्यक्ति, जीवनगत सीमित साधनों के अनुरूप जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति, सचमुच बड़े-बड़े नगरों में रहने वाले उस व्यक्ति से कहीं ज्यादा धनी-मानी, सुखी, स्वस्थ और तनाव-विषाद से मुक्त है जो ऊंचे-ऊंचे भवनों में रहकर प्रतिदिन जिन्दा रहने के लिये एक ओर अनेक प्रकार की दवाओं पर निर्भर है तो दूसरी ओर आकांक्षाओं, आवश्यकताओं के दुर्दमनीय स्वनिर्मित कष्टदायी सुमेरु पर बैठकर जीवन को 'अच्छी प्रकार' से जीने की मिथ्याधारणा में अपनी पूरी उम्र व्यतीत कर देता है।

उस दिन आसपास की दो-तीन ढाणियों में निरन्तर जाना-आना रहा, फिर रेगिस्तान में तो दूर-दूर तक बने एक-एक घर को, जो कम से कम डेढ़-डेढ़, दो-दो किलोमीटर की दूरी से कम नहीं होते, को भी इधर की भाषा में आसपास ही माना जाता है, मैं वस्तुतः दिनभर की भाग-दौड़, आवा-जाही से बहुत थक गया था, न केवल शारीरिक रूप से ही अपितु मानसिक रूप से भी। अनवरत व्यस्तता के चलते मैं भोजन भी नहीं कर पाया, उस पर ऊंट की सवारी। मैं पूरी तरह से इस सवारी का अभ्यस्त भी तो नहीं हो पाया था, विचित्र अनुभव है इस प्राणी की सवारी का भी, परन्तु इस क्षेत्र का सर्वजन-सुलभ आवागमन का साधन भी तो यही सुदर्शन जीव है। शाम होते-होते मैं अपने आवास पर पहुंचा। स्वयंपाकी था, एकाकी था, सोचा-आधा घन्टा सुस्ता लूं तो भोजन निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ करूं। अभी कमर सीधी किये दस मिनट भी नहीं बीते थे कि साक्षात् रन्तिदेव की सी वेशभूषा में एक प्रौढ़ अपने वाहन (ऊंट) सहित मेरे दरवाजे पर खड़ा था।

'धराली....'

उस आगन्तुक महामना की केवल इतनी ही बात समझ पाया कि उसकी पत्नी प्रसव-वेदना में है, और यह कि तत्काल चिकित्सा सुविधा नहीं मिल पायी तो गम्भीर स्थिति बन सकती है। एक ओर क्षुधार्त एवं श्रम-क्लान्त मैं, दूसरी ओर मेरा चिकित्सकीय दायित्व, मुझे निर्णय लेने में विलम्ब नहीं हुआ। मैं तत्काल अपनी दवा-पेटी (Medicine-Box) उठाकर उसके साथ हो लिया।

रात घिरने लगी थी, गर्मी का मौसम, रेगिस्तान की गर्मी दिन में जहाँ आदमी को झुलसा कर धर देती है, वहीं रात्रि में कुमुदिनी की भांति प्रफुल्लित और आनन्दित भी कर देती है। ऊँट की अपनी सधी-गति। जब हम उस एक दो झौंपड़ेनुमा ढाणी में पहुँचे तब रात्रि की 10 बज रही थी।

जिस परिवार में मैं जन्मा उसमें संस्कृत, उपनिषद्, गीता, रामायण, ज्योतिष, कर्मकाण्ड का सात्विक वातावरण वशांनुक्रम से सतत चला आ रहा था,

परिणामतः जब मेरी इस धरा पर आंख खुली तब ही से मेरे कर्णकुहरों में वेद की ऋचायें, रामायण के श्लोक और गीता की वाणी संस्कार प्रदता भगीरथी की भांति प्रवाहित होने लगी थी, या यूं कहूं कि साहित्य और अध्यात्म की जन्म-घुट्टी मुझे विरासत में मिली, ऐसा लिख कर भी शायद मैं मेरे पारिवारिक परिवेश के वैशिष्ट्य को शब्दबद्ध नहीं कर पाऊंगा। अपने स्थान से चलने से पूर्व गांव का ही एक युवक, जो अभी-अभी निकटस्थ कस्बे से आया ही था, से दुआ-सलाम के साथ ही ज्ञात हुआ कि शेरगढ़ में आज रात्रि को 'इस्कूल' में कवि-सम्मेलन होने जा रहा है, किन्तु मुझे प्रसव-वेदना में उलझी उस महिला के अतिरिक्त तब अन्य कुछ सूझ भी नहीं रहा था तो 'कवि सम्मेलन' वाली बात पर तात्कालिक रूप से मैं विशेष ध्यान नहीं दे पाया।

ढाणी में पहुंचने के मात्र आधा घन्टे बाद ही बच्चे का सकुशल जन्म हो गया और इस प्रक्रिया में मुझे औषधि उपचार की भी विशेष आवश्यकता नहीं हुई। प्रसूता और सद्यःप्रसूत शिशु दोनों को स्वस्थ देखकर कुछ समय के लिये मैं आज दिन भर की समस्त थकान और क्षुधाजन्य अवसन्नता को भूल गया, अब एक नयी बात मन-मस्तिष्क में थी, 'कवि सम्मेलन' कैसे सुना जाये? प्रश्न था—वहां कैसे पहुंचा जाये? 20 किलोमीटर की दूरी और रात्रि के 11 बजे थे तब।

ढाणी-पति तो बताया कि मैं क्यों कसमसा रहा हूं, येनकेन उसे इस बात के लिये राजी किया कि वह 'अभी तुरन्त, जितना जल्दी सम्भव हो मुझे शेरगढ़ ले चले, घन्टे-दो घन्टे वहां कविता का आनन्द लूंगा, फिर वह मुझे लौटते में 'सुवालिया' छोड़कर भोर होने से पहले-पहले वापस अपनी ढाणी लौट सकेगा'। मेरे द्वारा 'फीस' नहीं लेने से ही शायद वह प्रसन्नता पूर्वक तैयार हो गया था, फिर बालक और उसकी जननी निरापद थे तथा उनकी प्रसवोत्तर शुश्रूषार्थ स्वयं गृहपति की मां जो थी सेवा में।

यदि किसी इतर भू-भाग के व्यक्ति ने निरन्तर ऊंट की सवारी का अनुभव किया है तो उसे यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा व्यक्ति बाद में दो-तीन दिन तक सीधा चलने-फिरने में भी सहज समर्थ नहीं रह पाता। दोनों पैर ऊंट की उदर परिधि के आकार की सी स्थिति में आ जाते हैं और कटि भाग से लेकर पार्ष्णि तक की सम्पूर्ण शारीरिक रचना आवस्थिक ही सही, उस अनभ्यस्त व्यक्ति की गोलाकार ग्रहण कर लेती है, परन्तु मुझे तो कवि-सम्मेलन सुनना था। साहित्य के प्रति जन्म से ही यह रुझान बना जो आज तक कायम है। तारों भरी रात, कुछ तो मेरी व्यग्रता और कुछ शीघ्रातिशीघ्र शेरगढ़ पहुँचाने का मेरा बारम्बार अनुरोध। वाहन स्वामी ने ही आगे होकर कहा—

'आपको मैं सीधे रास्ते से शेरगढ़ लिये चलता हूं, समय भी कम और दूरी भी कम'। अन्धे को दो आंखें मिलीं वाली बात थी मेरे लिये। चट्‌ से उसकी पीठ थपथपायी और चल दिये उस तथाकथित सीधे रास्ते से शेरगढ़ की ओर।

यह तो सुबह ही ज्ञात हो पाया था कि जिस सीधे रास्ते से मुझे वह स्वनामधन्य 'जेठू' (यही नाम था उसका) शेरगढ़ ले जाने वाला था, वस्तुतः वह उसके लिये भी केवल सुना-सुनाया ही था, वह स्वयं इतनी उम्र लेने पर भी कभी उस मार्ग से न दिन में, न रात में उधर आया-गया नहीं था।

मैं अपनी काल्पनिक धरा पर खड़ा बड़ा खुश था कि जिस रफ्तार से ऊंट को सारथी हांक रहा है, तय है कि ज्यादा से ज्यादा डेढ़ घन्टे में मैं शेरगढ़ पहुंच जाऊंगा, फिर सीधे रास्ते से जो जा रहे थे हम। तब सम्भवतः एक भी नहीं बजा होगा,—मेरा कल्पना-चक्र बराबर चल रहा था—अभी पहुँच जाता हूँ, दो-तीन घन्टे तक कवियों की रचनाओं का आस्वादन लूंगा। यूं भी कवि सम्मेलन, दूसरे दौर में ही जम पाते हैं।' मेरे धैर्य का बांध तब टूटा जब एक घन्टे तक निरन्तर चलते रहने के बावजूद उस सीधे रास्ते में न तो कोई ढाणी मिली, न कोई ऊंट-आरोही और न दूर-दूर तक कोई टिमटिमाता दीया। उस भाई से पूछा तो वही जवाब 'अभी शेरगढ़ पहुंचने वाले हैं-साब'।

चलते-चलते ही प्रयत्न करके देर तक घड़ी पर नज़र केन्द्रित की तब मालूम हो सका कि ढाई बज रहे हैं, अब तो मैं खीझ की सी मानसिकता में था, किन्तु मजे की बात यह थी कि मैं झल्ला रहा था और 'सारथी' एक दम मौन ऊंट को हांके जा रहा था। यह 'खीझ-कार्यक्रम' भी 15-20 मिनट तक चल कर समाप्त हो गया, किन्तु उस पट्ठे का अखण्ड मौनव्रत यथापूर्व था। जब उसने एक टीले के ऊपर ऊंट को रोका तब तक शायद मन ही मन वह जान गया था कि —'हम राह भटक गये हैं।'

'डाक्टर साब— कहीं कोई नजर भी नहीं आता, किसी से पूछूं तो भी किससे ?'

'एक बात बताओ, जब तुम सीधा रास्ता जानते ही नहीं थे तो झूंठमूंठ में क्यों गलत रास्ते पर चले आये?' मेरे स्वर में प्रकट तीखेपन में अब पारिस्थितिक विवशता भी थी और झल्लाहट पूर्ण आक्रोश भी।

'साब आपको जल्दी पहुँचाने के लिये ही....' उसने शालीनता से कहा। मैं अब समर्पित और पराजित सैनिक की भांति अनुभव कर रहा था, सोचा आज कवि सम्मेलन सुनना सम्भवतः उस पराशक्ति को ही स्वीकार नहीं था, इस बेचारे का भी क्या दोष।

'अच्छा-जेठू, मुझे सुवालिया छोड़ दो और तुम अपने घर जाओ'।

रात के तीन बजे रेत के सबसे ऊंचे ढूह पर हम खड़े एक दूसरे की स्थिति पर बतिया रहे थे, कोई देखता तो निश्चय ही रात्रि के अन्तिम प्रहर में विचरण करने वाली अशरीरी दो आत्माओं को सशरीर देख कर भय से मरता नहीं, तो अचेत अवश्य हो गया होता, किन्तु हमारा कष्ट यही तो था कि उस समय वहां दूर-दूर तक कोई नहीं था।

खोल ली....अश्क—जो चौमुखी लड़ाई लड़ते रहे हैं....अश्क—जो अपने अधिकारों के लिए लगातार लड़ते हैं, मुकद्दमेबाजी तक करते रहते हैं....अश्क, जो बन्द कमरे में कैद हो, कलम नहीं चलाते, बल्कि जिन्होंने जिन्दगी को खुली आंखों देखा है, खुले मस्तिष्क से समझा है और उसी खुलेपन से उनका अच्छा, सच्चा, यथार्थ और आथेण्टिक चित्रण कर दिया है.... अश्क, जो समवयस्कों की ही नहीं, युवा लेखकों की भी रचनाएँ पढ़ते हैं और उनसे सम्वाद जारी रखते हैं।....अश्क, जो नितान्त गम्भीर होने के बावजूद रंगीन मिजाज हैं....मजाक करते ही नहीं सहते भी हैं और अपने साथ किये जाने वाले मजाक पर भी ठहाके लगा सकते हैं....अश्क जो शरीर से बीमार होने के बावजूद स्वस्थ मन वाले हैं, बुढ़ापे के बावजूद जवान हैं....अश्क, जो अपनी जिन्दगी ही में लीजेण्ड बन गये हैं....

विनय की बातें सुनते हुए सहसा मन में ऊहापोह मचने लगती है। इलाहाबाद आऊं और ऐसे रंगारंग व्यक्तित्व वाले मूर्धन्य साहित्यकार से मिले बिना लौट जाऊं—यह बात खलने लगती है। अपने अनिश्चित कार्यक्रम पर झुंझलाहट होती है.... इलाहाबाद आने से पूर्व अश्क जी से समय तो मांग ही लेना चाहिए था, पर अब....

सोचते-विचारते शाम चार बजे खुसरो बाग की पश्चिमी दीवार के मध्यवर्ती बन्द पड़े दरवाजे के ऐन सामने एक बड़े से पुराने बंगले पर जा पहुँचती हूँ। बाहर गेट के एक स्तम्भ में उनके नाम की पट्टी जड़ी है। लम्बे पान की शक्ल के हरे लॉन के साथ-साथ गोलाकार पथ से मैं अन्दर जाती हूं। सामने पुराना बंगला है। बाईं ओर नयी अनेक्सी। अन्दर से एक सुन्दर युवक निकलता है। उनका पौत्र। मालूम होता है—अश्क जी अस्वस्थ हैं। पापा जी को हल्की सी हरारत है। दिन भर परेशान रहे हैं। अभी आंख लगी है। वह कहता है और मुझे अनेक्सी के बरामदे में बैठा कर पंखा चला देता है।

मन उदास हो जाता है। मैं प्रतीक्षा करती हूं। शायद कुछ समय में जग जायें तो कम-से-कम दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर लूं।

प्रतीक्षा की घड़ियाँ भारी नहीं पड़तीं। इस खालीपन को आकर भर देती हैं—श्रीमती अश्क। वे भी दो वर्ष पहले पक्षाघात की चपेट में आ गयी थीं, जिसका असर अब भी उन पर शेष है। कुछ देर बात-चीत के बाद यह कहती हुयी वे उठती हैं कि अश्क जी उठ गये हों तो भेजती हूँ।

वे चली जाती हैं और पीछे छोड़ जाती हैं अपने हंसमुख मिलनसार व्यक्तित्व की छाप।

मेरे विचारों का प्रवाह थमता नहीं है। यह पत्र उन्हीं कौशल्या जी का है जो जिन्दादिली की मिसाल थीं उस समय। पक्षाघात को भी उन्होंने बड़े ही जीवट से झेल लिया था—और आज....अकेला रह कर व्यक्ति कितना टूट जाता है। साथी की चिर

निद्रा उनकी जीवन्तता को कहाँ उड़ा ले गई। मैं इलाहाबाद तो नहीं जा सकी पर मन वहाँ की परिक्रमा जरूर लगा आया था और कल्पना में देखने लगा हसमुख कौशल्या जी का एक परिवर्तित रूप। सोचते-विचारते मैं पुनः 1997 से 1987 में चली जाती हूँ जब शिष्टता का आवरण ओढ़ते हुए मैंने कौशल्या जी से कहा था कि अश्क जी अस्वस्थ हैं तो उन्हें डिस्टर्ब करना भी तो उचित नहीं है और वे मुस्कराते हुए बोल उठी थीं कि तुम इतनी दूर से आयी हो—फिर कब इलाहाबाद आना हो—बिना मिले जाना भी ठीक नहीं। मन में तो मेरे भी यही विचार उठ रहे थे कि उसी रात प्रयागराज से प्रस्थान करना है यदि अश्क जी अधिक अस्वस्थ हुए तो....

इन्हीं विचारों में डूबी होती हूँ कि अश्क जी आते दिखायी देते हैं। हौले-हौले पड़ते, थके-थके कदम। दुशाले में लिपटी, लम्बी, कृश काया। लम्बे पतले चेहरे में से झांकती पैनी आंखें। लम्बे बाल। चेहरे की झुर्रियां उम्र का लेखा-जोखा देती हुईं। मैं उठ कर अभिवादन करती हूँ। पतले होठों पर एक तरल मुस्कान आ जाती है और मैं उनके साथ किताबों के रैकों से भरे लम्बे, आयताकार अध्ययन कक्ष में प्रवेश करती हूँ। वे बड़ी सी मेज के पीछे अपनी गद्देदार रिवाल्विंग चेयर पर बैठने का इशारा करते हैं। मैं बैठती हुई उनके स्वास्थ्य के बारे में जिज्ञासा प्रकट करती हूँ। वे हँसते हुए कहते हैं कि अब 77 वर्ष के हो गये हैं। स्वास्थ्य तो हमेशा से ऐसा ही चलता आया है। कौन जाने कब 'टें' बोल जाय।'

बातचीत के प्रारम्भ में हल्के से दमे और खासी के कारण कुछ व्यवधान पड़ता है। वे इन्हेलर को दबा कर हवा फेफड़ों में भरते हैं। थोड़ा खांसते हैं फिर गर्म चाय की चुस्कियों से प्रकृतिस्थ हो जाते हैं।

उस समय भी कौशल्या जी उन्हें बोलने से रोकती नहीं अपितु सहारा देती हैं बातचीत जारी रखने में। मैं उन दिनों मोहन राकेश के साहित्य पर शोध कर रही थी—अश्क जी की मोहन राकेश के पिता से घनिष्टता थी तथा बाद में राकेश भी उनसे जुड़े रहे। अतः मेरी स्वाभाविक इच्छा थी कि मैं राकेश के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनसे चर्चा करूं। जब बातचीत आगे बढ़ने लगती है तो कौशल्या जी उठकर चली जाती हैं। और लगभग एक घण्टा पश्चात् एक सुघड़ भारतीय गृहिणी की भांति दोबारा चाय के साथ कुछ मीठा-नमकीन लिवा लाती हैं। अश्क जी केवल चाय लेते हैं और मुझे वे दोनों ही आग्रहपूर्वक मीठा-नमकीन भी खिलाते हैं। साथ ही अश्क जी कहते हैं कि इलाहाबाद आई हो तो तीन चार दिन रुकना था। यह तो साहित्यकारों की भूमि है—सबसे मिलना था—महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा से तो अवश्य ही....पर मैं रुकी नहीं।

मोहन राकेश ने ठीक ही लिखा था 'समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता' और दोबारा जब मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अधिवेशन के समय अप्रेल, 94 में इलाहाबाद गई तो न महादेवी वर्मा रहीं और न रामकुमार जी वर्मा। अश्क जी भी

इस बीच अस्वस्थ रहे थे—गिरती दीवारें उपन्यास चल रहा था। अश्क जी ने दिखलाया कि अब वे किन कठिनाइयों में लेखन कर रहे हैं। एक स्टैण्डिंग बोर्ड था। अश्क जी को जब लिखना होता था खड़े होकर लिखते थे। हाथों की अंगुलियां भी मुड़ गयी थीं....पर लेखन में तो उनके प्राण थे। हाँ! कौशल्या जी इस बार अपेक्षाकृत स्वस्थ दीख पड़ रही थीं। उनके सम्पादन में नीलाभ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'अश्क : साक्षात्कार और विचार' के तीन भाग प्रकाशित हो गए थे। अश्क जी ने अपने आटोग्राफ सहित ये भाग मुझे दिये थे, स्नेह और शुभकामनाओं के साथ। प्रथम भाग में 'मोहन राकेश : व्यक्तित्व के अन्तरंग पहलू' शीर्षक से मोहन राकेश के सम्बन्ध में अश्क जी से हुई वार्ता को भी स्थान मिला है। इस बार मैं अकेली नहीं थी। साथ में सम्मेलन के सहभागी भी थे। अश्क परिवार की पैनी नजर और लम्बी याददाश्त से कायल हुए बिना वे भी नहीं रह सके। अश्क जी के पुत्र ने 7 वर्ष पूर्व मुझे बस देखा भर था, पर सम्मेलन में इतनी भीड़-भाड़ के बीच भी पहचान लिया। घर गई तो कौशल्या जी पहचान गईं। भला ऐसे याद रखने वालों को भी कभी भूला जा सकता है?

यादों के आईने से

डा. अज़रा 'नूर'

यह सत्य है कि मनुष्य की जीवन-यात्रा की पूर्णता के लिए प्रकृति की ओर से कुछ पड़ाव निश्चित किये गये हैं, जिन पर वह सदैव से अपनी सुविधा, आस्था, स्नेह, श्रद्धा, समय एवं परिस्थिति के अनुसार कर्म करता, विश्राम लेता, ठहरता, आगे बढ़ता और फिर रुकता आया है, परन्तु इस जीवन-यात्रा के बीच कभी कोई एक पड़ाव इतना महत्त्वपूर्ण, आकर्षक एवं अद्वितीय भी आ जाता है कि पीछे छूट चुके पड़ावों की खूबसूरत घटनाएँ फीकी पड़ जाती हैं। यूँ गुजरने को तो यह भी गुजर जाता है मगर एक मशाल ऐसी हाथ में थमा जाता है कि आगे का सफ़र इसकी रोशनी में तय हो जाता है। मन कह उठता है आह! कितना अलौकिक, कितना शक्तिमान, कितना प्रेममय और कितना स्फूर्तिदायक व कैसा अद्भुत था वह समय जो अपने बिछुड़ने की टीस दे गया मगर जिससे जुड़ी यादें हर पल, हर क्षण साँसों के तार में ऊर्जा प्रवाहित करती रहती हैं। जीवन को एक लक्ष्य देती हैं और प्रेरणास्रोत बनकर धीरे-धीरे अस्तित्व का हिस्सा बन जाया करती हैं।

एकान्त के कुछ क्षणों में जब मैं अपने व्यक्तित्व के आईने में झांकती हूँ तो वहाँ नजर आती है एक भरी-पूरी ऐसी आकृति, जिसने पहले से स्थित सभी छवियों को मिटाकर अपने लिए एक अमिट स्थान बना लिया है। यह आकृति है उस परमज्ञानी व्यक्ति की, जिनके सम्पर्क में रहने का अवसर कुल मिलाकर मुझे केवल दो वर्षों के लिए मिला, मगर भीतर कहीं बहुत गहराई तक मेरे सोच-विचार और कार्यप्रणाली को प्रभावित कर गया। दरम्याना क़द, गेहुँआ रंग, छरहरा जिस्म और बड़ी-बड़ी आँखें जो युवावस्था में बिना चश्मे के निःसन्देह बहुत चमकदार रही होंगी, भरे-भरे लम्बे चेहरे पर एक नजर में आकर्षित करने वाला चौड़ा माथा जिस पर उम्र के हाथ गहरी लकीरें खींचकर कान तक ले आये हैं, मगर जिनकी सिलवटों में असंख्य विद्वानों, लेखकों, दार्शनिकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों एवं लेखकों के विचारों का भण्डार सिमटा हुआ है।

अंग्रेजी व्याख्याता के रूप में कार्यभार संभालने के बाद उनसे मेरा प्रथम परिचय हुआ तो उनकी वेशभूषा की सादगी, व्यवहार की विनम्रता और शब्दों की शालीनता से मुझे यह समझने में ज्यादा देर न लगी कि आप ही हैं, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ़ के प्राचार्य—अंग्रेजी व हिन्दी में प्रकाशित कई पुस्तकों के लेखक, विभिन्न सेमीनारों व पत्रवाचनों में अपने प्रस्तुतीकरण के लिए विख्यात, कुमायूँ के जाने-माने साहित्यकार—डॉ. कृष्णानन्द जोशी।

आपके अहंकार रहित, सरल व्यक्तित्व के बारे में जैसा मैंने सुना और पढ़ा था, सचमुच वैसा ही पाया भी। जहाँ तक मुझे याद है, यह मेरी उनसे दूसरी मुलाकात थी, जब उन्होंने मुझसे सवाल किया—'आपने पी-एच. डी. के बारे में कुछ नहीं सोचा अब तक?'

'जी सर, सोचा तो है, लेकिन'

'लेकिन क्या?'

'जी, अभी एक साल पहले ही रुहेलखण्ड यूनिवर्सिटी से एम.ए. किया है, अब जॉब यहाँ कुमायूं में है, समझ में नहीं आता, पी-एच. डी. करूं भी तो किस यूनिवर्सिटी से करूं?'

'इसमें समझने-सोचने की बात ही क्या है? अब टीचिंग लाईन में आई हैं तो रिसर्च आपको करनी ही चाहिए।'

'यस सर'—मैं कुछ कहना चाहते हुए भी खामोश हो गई, उन्होंने पता नहीं कैसे मेरी सकुचाहट को भाँप लिया, खुद ही बात आगे बढ़ाई, बोले—'अभी आपकी तदर्थ नियुक्ति है, चयन के समय मुश्किल होगी, इसलिए जितनी जल्दी हो, रिसर्चवर्क शुरू कर देना चाहिए।'

'जी....मगर....कोई गाईड मिले।'

'ओह! डोंट वरी फोर देट, आप तो टॉपिक सोचिए'—डॉ. जोशी हंसकर बोले और किसी मीटिंग में जाने के लिए उठ खड़े हुए।

यहीं से शुरुआत होती है मेरे अध्ययनकाल की। सोच-विचार एवं तर्क-वितर्क के बाद शोधकार्य हेतु विषय का चयन हुआ—'टॉमस हार्डी की कविताओं का गूढ़ अध्ययन'। शेर-ओ-शायरी एवं काव्य-विधा में मेरी रुचि पहले से थी, अब शोध के साथ जैसे इसके विकास के अवसर जुड़े और मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, परम विद्वान डॉ. कृष्णानन्द जोशी की शिष्या बनने का।

'कलेक्टेड पोयम्स ऑफ टॉमस हार्डी' (टॉमस हार्डी की कविताओं का संग्रह) की प्राप्ति के पश्चात् अक्सर सायं तीन बजे से पांच बजे के मध्य जब 'सर' कॉलेज के काम से थोड़ा समय निकाल पाते, कविताओं का पठन-पाठन शुरू हो जाता, थोड़ी देर को मैं जैसे किसी दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाती, और पढ़ने के बाद ऐसा महसूस होता जैसे वह दिन बड़ा ही सार्थक बीता। डॉ. जोशी के पढ़ाने का ढंग भी बिलकुल निराला ही था, कविता के भाव के साथ उनकी आवाज का उतार-चढ़ाव सुनकर व चेहरे के बदलते रंग देखकर बस यूं लगता कि वह कविता का रस पी भी रहे हैं और उसमें जी भी रहे हैं। 'टू एन अनबोर्न पॉपर चाइल्ड' जैसी कविता को पढ़ते वक्त उनके लहजे का दुःख से भीग जाना व 'एट टी' के बीच होठों की मुस्कराहट बिना शब्दों के ही जैसे कविता का अर्थ स्पष्ट कर दिया करती थी।

सचमुच ज्ञान का भण्डार लगते थे वे। किसी भी कविता के प्रसंग में हार्डी के जीवन का लेखा-जोखा देना, कभी कीट्स के दर्द से उसके दर्द को मिला देना और कभी एलिजाबेथ बैरट ब्राउनिंग की प्रेम कविताओं का जिक्र उनके मुँह से यूं होता मानो वह उन घटनाओं के साक्षी रहे हैं या फिर कविता में व्यक्त कवि व उसके पात्रों से कहीं मिल चुके हैं। उनके सामने बैठकर मुझे यूं लगता कि मैंने बरसों से कुछ पढ़ा ही नहीं, या जो कुछ पढ़ा वह उनके सामने प्रस्तुत करने जैसा स्तरीय नहीं, माध्यमिक व उच्च शिक्षा केन्द्रों पर किया गया अध्ययन, जिसके परिणाम पर मैं गर्वित होती थी व उससे जुड़े अध्यापक, जिनको मेरा छोटा सा दिमाग 'सर्वोत्तम' व 'सर्वश्रेष्ठ' आंकता था, अब जैसे अपनी जगह से हिलने लगे, सारी छवियां धुंधलाने लगीं, अक्सर मैं अपनी उस अवस्था में पहुँच जाती जिसे बाल्यावस्था कहते हैं। मुझे तीव्रता से याद आते तो 'मॉडर्न-मान्टेसरी स्कूल' के संस्थापक श्री उदयवीरसिंह जी आते, जो मेरे आदिगुरु थे और जो भाषा को लेकर विद्यार्थियों की नींव मजबूत करने में अपनी ओर से कोई कोर-कसर बाकी न रखते थे।

अध्ययनकाल के दौरान आदरणीय डॉ. जोशी जी के चरित्र से मुझे संवेदनशीलता, उदारता, गुरुता व मानवीयता के उदाहरण भी मिलते रहे। एक बार ऐसा हुआ कि ऑफिस में उनको अति व्यस्त देखकर मैं बाहर से ही लौट आई और दो दिन तक पढ़ाई स्थगित रही, तीसरे दिन जब मैं समयानुसार पहुँची तो वह गुस्से में बोले, दो दिन कहां रहीं? 'जी सर, आप व्यस्त थे, मैंने डिस्टर्ब नहीं किया'—मैं डरकर बोली, यह सुनकर वह ऊंची आवाज में बोले—'अच्छा, मैं बिजी था, तो मैं फुरसत में कब रहता हूं? तुम्हारी इच्छा नहीं होगी पढ़ने की, कुछ लिखकर लाई हो, चेप्टर या नहीं, मेरा कुछ पता नहीं मैं कब तक यहां हूं, तुम काम 'सीरियसली' क्यूं नहीं करती?'

कंपकंपाते हाथों से मैंने अपने लिखे हुए चेप्टर उनके सामने कर दिए और खड़ी रही। उन्हें कुछ ख्याल आया, बोले—'बैठ जाओ।'

थोड़ी देर कमरे में बोझिल सी खामोशी छाई रही, फिर संशोधन करते हुए नर्मी से बोले—'तुम समझती होगी, थोड़ी देर तुम्हें पढ़ाने में मुझे परेशानी होती है, थकान हो जाती है, ऐसी बात नहीं है, यही तो वह वक्त होता है जब कविताएं पढ़कर और पढ़ाकर मुझे आत्मिक सुख मिलता है। क्लास लेने का मौका तो अब नहीं मिलता....बस सारा दिन ये फाइलें और दस्तखत....सच, पढ़ाने से ही सच्चा सुख मिलता है।'

मुझे लगा दिल के ऊपर से थोड़ा-सा बोझ हट गया, पर वह दिन तो शायद था ही मेरे सुनने के लिए, चेप्टर देखने के बाद मुझे लौटाने के लिए जो 'सर' ने उन्हें पलटा तो वहां टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में कुछ शेर लिखे हुए देखकर वापस मेज पर रख लिया, पढ़कर बोले—'तुमने लिखे हैं।'

शर्म से मेरा तो मुँह झुक गया, घबराहट हुई, इस ख्याल से ही ठण्ड में पसीना आने लगा कि इतने मामूली अशआर पढ़कर 'सर' मेरे बारे में क्या सोचेंगे? उन्होंने आगे पूछा—'तुम्हें लिखने का शौक है पर कुछ अपना लिखा हुआ पहले क्यूँ नहीं दिखाया?'

'जी...वह ऐसा कुछ खास नहीं....' मेरा तो बेवजह ही गला भर आया, मैं कुछ भी न बोल सकी, जल्दी से चेप्टर लेकर भीगी पलकों से कमरे में लौट आयी और अकेली बैठी रोती रही।

दूसरे दिन शोधकार्य देखने के बाद 'सर' ने अपनी मेज की दराज से चार किताबें निकाली और मुझे देकर कहा—'तुम अच्छा लिखती हो, बहुत अच्छा लिख सकती हो, लेकिन पहले पढ़ो, अच्छे लेखकों को पढ़ो और फिर लिखो...खूब लिखो' उनके इस वाक्य ने मेरे पहले दिन की सारी उदासी को मिटा दिया, मैं खुशी से भरी कमरे में आयी। देखा वह इकबाल, फैज, फ़िराक गोरखपुरी और रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं के हिन्दी अनुवाद थे।

डॉ. जोशी जी को लेकर लिखते वक्त मैं अपने आपको बच्चन की 'क्या भूलूं क्या याद करूं' वाली स्थिति में पा रही हूँ। कभी-कभार उनकी भावना की सच्ची हार्दिकता मुझ तक पहुँचाने में परिस्थितियों ने भी सहयोग दिया। एक तो मैं उनकी शोध-छात्रा, दूसरे छात्रावास-अधीक्षिका और तीसरे एकमात्र पुत्र की हमउम्र, जो मेरे समान ही तदर्थ प्रवक्ता के रूप में कार्यरत था, सो कभी शोध, कभी छात्रावास और कभी नौकरी की समस्या को लेकर उनके आवास पर भी जाना पड़ जाता। सभी क्षेत्रों में उनका सहयोग पाकर मन को ढाढ़स सी बंधी रहती और किसी भी आकस्मिक कठिनाई के आ पड़ने पर मैं उनसे ही हल की अपेक्षा करती।

होली के अवसर पर एक बार मैं जो दिन के चार बजे के करीब उनके घर पहुँची तो वह सौफे पर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। मेज पर ढेर सारी किताबें फैली थीं, पत्नी शायद रसोई में थी, ऐसा मैंने पकवान की खुशबू से अन्दाज़ लगाया था। मुझे देखकर बहुत बुझे हुए अन्दाज में बोले 'आओ, बैठो, क्या कुछ किताब लेकर या लिखकर लाई हो?'

मैंने कहा,—'नहीं—सर, मैंने सोचा होली के मौके पर सबसे मिल आऊं, एन्जॉय कर रहे होंगे, त्यौहार....मगर यहां तो....'

उन्होंने मेरी बात पूरी की 'सन्नाटा लग रहा है न? हां, पप्पू (पुत्र) तो आ नहीं पाया और वह (पत्नी) अपने चूल्हे-चौके में लगी होगी।'

'जी'....मैं....चुप हो गई।

वह सामने लगे गुलमोहर के पेड़ को एकटक देखते हुए बोले, 'देखो, कितना सूनापन रहता है, इन पहाड़ों में, अब तो सरकारी नौकरी करते-करते आदत

पड़ गई है। इसी खामोशी ने मेरे हाथों से किताब और कलम को नहीं छूटने दिया, जानती हो?'

'जी सर। तभी आप इतना कुछ लिख पाये हैं....वह भी इतना अच्छा, इस मामले में आप वाकई 'लक्की' हैं।'

'अरे नहीं'....उनकी आँखों में एकदम आँसू भर आये, भीगी हुई आवाज में बोले....'मैं बहुत बदनसीब हूँ भई। तुम देखो, मेरी कोई बेटी नहीं, कोई बहन भी नहीं, होती तो क्या घर ऐसा भाँय-भाँय करता? सच! लड़की एक फूल की तरह होती है जो हर आँगन को प्यार की खुशबू से महका दिया करती है।'

इसी तरह के छोटे-छोटे व्यावहारिक प्रसंगों एवं पुस्तकों में व्यक्त कोमल अनुभूतियों ने मुझे काफी हद तक संवेदनशील बना दिया। मैं कभी 'शुमन्हार' का दर्शन हाथ में लिए बैठी रहती, तो कभी 'उमर ख़य्याम की रूबाईयां लाइब्रेरी में खोजती फिरती। मेरे दिल में भावनाओं की भीड़ जमा होती और दिमाग में सवालों के तूफान, मैं बेचैनी से कमरे में इधर-उधर चक्कर काटा करती और सोचती—'कैसे व्यक्त करूं भावनाएं, किससे पूछूं सवालों के जवाब।'

वर्ष 1985 मेरे जीवन का वह वर्ष रहा जब मुझे पढ़ने-लिखने की धुन सी सवार हो गई। हार्डी के 'निराशावाद' ने मेरे अकेलेपन में उदासी को भी बसा लिया। न मुझे नींद आती, न घर की याद, न घरवालों से मिलने की ललक, कहीं भी जाती तो लगता व्यर्थ समय नष्ट हो रहा है, लौट चलूं कमरे में, वहां मेरी किताबें और उनके किरदार—यही मेरे साथी—मेरे अपने। मैं घन्टों उनसे बातें करती, हंसा करती और रोया करती।

आज भी जिन्दा है वह आँसू जो 'टेस' की कमनसीबी और 'मेयर आफ कैस्टरब्रिज' के 'हैन्चर्ड' के लिए मेरी आँखों से बहे और कागज पर शब्द बनकर नज्म बन गये। फिर वर्ष 1986 में इन्हीं नज़्मों का संग्रह 'तड़प' नाम से प्रकाशित होकर आया तो प्रतिक्रियास्वरूप लोगों ने मुझमें दर्द की कहानियां ढूंढनी शुरू की। उन्हीं दिनों मुझे रा. इ. कालेज, गंगोलीहाट के प्रवक्ता श्री गिरीशचन्द्र उप्रेती का पत्र मिला, जिसमें 'तड़प' की समीक्षा में उन्होंने श्री सुमित्रानन्दन पन्त की निम्न पंक्तियां लिखकर भेजीं—

'वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान,
निकल कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अन्जान।'

इन्हीं सुखद-दुखद अनुभूतियों के बीच समय का चक्र तेजी से चलता रहा। 'सर' के अनुभवों से लाभान्वित होती हुई व उनसे प्रेरणा प्राप्त करती हुई मुझमें पढ़ने

और लिखने की इच्छा बलवती होती गई। डेढ़ वर्ष बीता, मेरा शोध-प्रबन्ध समाप्ति की ओर बढ़ा और 'सर' कुमायूँ विश्वविद्यालय के उप-कुलपति का कार्यभार ग्रहण करने हेतु नैनीताल गये। कुछ माह तक उन्होंने इस पद को सुशोभित किया और उसी बीच मैंने अपना शोध-प्रबंध पूर्ण कर विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया।

इसके बाद सर के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के सामने बैठने एवं बातें करने का अवसर न के बराबर ही मिला। वह नैनीताल से आने के बाद उच्च शिक्षा निदेशालय, इलाहाबाद में 'विकास अधिकारी' के तौर पर पदोन्नत होकर चले गये, और मुझे कुछ दिन तक ऐसा महसूस होता रहा कि मैं मानसिक रूप से अनाथ हो गई हूँ, एक ऐसा संरक्षक जिसकी छत्रछाया में मैं स्वयं को बड़ा सुरक्षित पाती रही और जिसके समक्ष मैं अपना दुःख, दर्द, पीड़ा और परेशानी निःसंकोच होकर रखती रही, वही हमदर्द, वही आत्मीय एवं पूजनीय मानव बहुत दूर चला गया है। मैं, मेरा सृजन और लेखन सब बुरी तरह उनकी कमी को महसूस करते और निराशा में डूबते जाते, यह जो थोड़ी बहुत हलचल अब तक बरकरार है वह भी शायद तभी अन्धेरे में खो गई होती अगर उनके पत्रों ने ही मुझे न संभाला होता और शक्ति न दी होती। अपनी व्यस्तता के बावजूद उन्होंने चन्द लाइनों में मुझे हिदायत दी, 'तुमने अपनी थीसिस सब्मिट कर दी, तो काम खत्म नहीं हुआ, अब शुरू करने का वक्त आया है, पढ़ो....खूब पढ़ो और लिखो...लिखकर मुझे भेजो—यहां अच्छे शायर हैं, मैं उन्हें दिखाऊंगा, किताबों की जरूरत हो तो लिखना, यहाँ पब्लिक लाइब्रेरी से इश्यू करादी जायेंगी।'

उनकी हिदायतें मेरे लिए आदेश के समान थीं जिन्हें पूरा करने का मैं अपनी ओर से प्रयत्न करती, जैसे भी, जितना भी मुझसे होता, उन्हें लिख भेजती और वह जवाब में गोर्की, चेखोव, टॉलस्टाय, इब्सेन, प्रेमचन्द, निराला, टैगोर, मीरां और अलताफ़ हुसैन 'हाली' जैसे विश्वविख्यात साहित्यकारों की रचनाओं पर अपने विचार लिखते—जिनका मतलब मेरे लिए यह होता है कि इन्हें मुझे पढ़ना भी है और समझना भी है।

महीनों में उनका कभी कोई खत मिल पाता जो मेरे लिए एक साहित्यिक टिप्पणी बन जाता, एक बार उन्होंने सिर्फ इतना लिखा 'उमर ख़य्याम की रुबाईयों का हिन्दी में अनुवाद कर रहा हूँ। तुम्हें भी मदद करनी होगी, फिटसजीराल्ड का अंग्रेजी अनुवाद लेकर पढ़ना शुरू कर दो।'

मेरी तरफ से सवाल उठा, 'सर, इतनी व्यस्तताओं के बावजूद आप लिखने-पढ़ने का काम कब और कैसे कर पाते हैं?'

जवाब आया, तुम्हें मालूम होना चाहिए आजकल मेरी लाइब्रेरी है—'भारतीय रेल', अधिकतर दौरे पर रहता हूँ। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में सीट पर बैठा-लेटा पढ़ता रहता हूँ सोता बिलकुल नहीं, रही लिखने की बात तो वह तुम खुद देख लो। मैंने देखा पिन लगाई हुई छोटी-छोटी ढेरों पंक्तियां थीं जिन पर उमर ख़य्याम की रुबाईयों का अनुवाद किया गया था।

विचार करती हूं कहीं पाठकगण मेरे इन सस्मरणों को प्रशंसापत्र के रूप में न ले लें, यह समझ बैठें कि डा. जोशी में कोई कमी थी ही नहीं। एक सत्य यह भी है कि जहां विभाग के अन्य वरिष्ठ सदस्य व उनके विद्यार्थी रह चुके प्रवक्तागण उनके अध्यापन व साहित्यिक उपलब्धियों की प्रशंसा करते नहीं थकते, वहीं एक बेहतर प्रशासक के रूप में उनकी अकुशलता की ओर संकेत करना भी नहीं भूलते। परन्तु यहां बात उनकी अच्छाईयों-बुराईयों की नहीं मेरे जीवन की है जिसका अर्थ मैंने उनसे मिलकर ही जाना, उनके सम्पर्क में आए बगैर शायद मैं अन्त तक यही न समझ पाती कि एक जीवन व उद्देश्यपूर्ण जीवन के बीच का अन्तर क्या होता है?

वक्त की लहर कब इन्सान को एक शहर से बहाकर दूसरे में छोड़ आयेगी—कोई नहीं जानता, फिर मेरे लिए शहर तो क्या—प्रान्त ही दूसरा हो गया। विवाह हुआ, नौकरी छोड़नी पड़ी, उदयपुर में बसेरा हुआ और धीरे-धीरे राजस्थान के चटकीले रंग मेरी जीवन चुनरिया में सिमटने लगे। मैं यहां की हुई और यहां का सब मेरा अपना हुआ।

मायके से दूर...बहुत दूर होने की कसक हर लड़की की तरह जब मेरे भी दिल में होती है तो मैं अपनी यादों की पोटली खोलकर बैठ जाती हूं, सबके चेहरों से गुजरती हुई मेरी आंखें उस शख्सियत पर टिक कर नम हो जाती हैं जिसमें किसी क्षण में बाप का सा बड़प्पन पाया तो किसी पल मां की सी ममता और कभी सच्चे दोस्त के हृदय से निकली शुभकामनाएं—और इतना ही क्यूं—इससे ज्यादा भी बहुत कुछ औरों की नजर में तो है सिर्फ शोध उपाधि—नौकरी की आवश्यक योग्यता और अर्थोपार्जन का एक साधन, मगर मेरे लिए तो इससे कहीं बढ़कर है वह मानसिक शक्ति, जिसको विकास का अवसर डा. जोशी के सम्पर्क में मिल सका, पढ़ने की रुचि जो उन्होंने मुझमें जागृत की वही हार्दिक शान्ति देने में सहायक हुई और उनके उपदेश मेरे लिए हुए सतत प्रेरणा के स्रोत।

डा. जोशी के सम्बन्ध में 1988 में यह समाचार सुनकर बेहद हर्ष हुआ था कि वह उत्तरप्रदेश सचिवालय, लखनऊ में संयुक्त सचिव (शिक्षा) के गरिमामय पद पर आसीन हो चुके हैं। मालूम न था कि यह ख़ुशी इतनी अल्पकालिक होकर रह जायेगी। उनकी विद्वत्ता व अनुभवों से शिक्षा एवं साहित्य जगत को और अधिक व्यावहारिक लाभ मिल सकेगा, ऐसी आशा रखने वाले उनके कद्रदान उस समय स्तम्भित रह गये जब अचानक 27 अप्रेल, 92 को ब्रेन हैमरेज की वजह से उनके कार्यालय में ही दिवंगत होने का दुखद समाचार मिला। एक सप्ताह बाद मिलने वाली इस दुखद खबर ने थोड़ी देर को मुझे जैसे जड़ कर दिया था। बड़ी मुश्किल से अपने आपको उनकी चिर विदाई का विश्वास दिलाकर 'दिल की गहराईयों से' उन्हें शाब्दिक श्रद्धांजलि समर्पित कर सकी।

सोचती हूँ बहुत कुछ नया पा लेने की चाह और सन्तोष के बीच जो खोया है वह भी कम कीमती नहीं, गुजरे वक्त की तरह उसे लौटा पाना तो सम्भव नहीं, हां, मगर सुरक्षित जरूर रखा जा सकता है और मैंने रखा भी है, अपनी भावनाओं में, अध्ययन-अध्यापन में, रचनाओं में, जीवन के हर कार्य-क्षेत्र में 'दिल की गहराईयों' से मैं उन्हें कहीं न कहीं पा ही लेती हूँ। अपने आस-पास जब भी कहीं कुछ नया, शुभ और सुखकर पाती हूँ, तो लगता है, वह उनके ही आशीर्वाद का फल है। ●

ग्रहण टल गया

इन्दुशेखर 'तत्पुरुष'

बस से उतरते ही दो-चार कदम भी नहीं चल पाया होगा कि एक करुणार्त स्वर सुनाई पड़ा—'ओ बाबू! अल्लाह के नाम पे देना।' दैन्यभाव उसके चेहरे से फूटा पड़ रहा था। उसकी स्थिति का यद्यपि पूरा-पूरा अहसास हो रहा था तो भी वह अभ्यस्त-अनुष्ठानवश कह गई—'एक दुखियारी मजबूर औरत हूँ बाबू!' जराजीर्ण कृशगात्री बुढ़िया थी वह। उसकी पूरी शब्दावली मन को छू पाती उससे पहले ही, उसके क्षणिक साक्षात् से ही मेरा हाथ यान्त्रिक गति से जेब तक पहुँच गया और सिक्का टटोलने तक उसकी शब्दावली ने जब अन्तर्मन को छुआ तो मैं एकाएक ठिठक गया। बचपन का एक घटना प्रसंग स्मृति में कौंध गया।

उस प्रसंग से पहले यह स्पष्ट कर देना प्रसंगानुकूल होगा कि पिछले कुछ वर्षों से ही कुछ ऐसा अभ्यास बन गया कि कोई भी असहाय या अपाहिज-सा भिखारी दिख जाता है तो उसे अठन्नी-चवन्नी दे ही देता हूँ। इसका यह बिलकुल तात्पर्य नहीं कि मैं कोई दानशील हो गया हूँ अथवा ऐसा दंभ पाले हूँ। क्योंकि अभी भी न तो हर किसी को देने का मन होता है और यह भी याद नहीं पड़ता कि किसी भिखारी को रुपया-दो रुपया से अधिक कभी दिया हो। किन्तु अपनी समझ के शुरुआती दिनों में मैं बिलकुल अलग तरह की धारणा पाले हुए था। यानी उस समय जब हमें यह खुशफ़हमी हो गई कि अब हम समझदार होने लगे हैं। अपने स्कूली जीवन से ही हम यह पक्की धारणा बना चुके थे कि भिखारियों को एक पाई भी देना वज्रमूर्खता है। ये सभी कामचोर होते हैं। इधर-उधर से रुपये-पैसे, कपड़े-लत्ते आदि जुटाकर मौजमस्ती करते हैं। इनकी असमर्थता भी एक नाटक भर है। यही नहीं, हमारे शोध का विषय भी यह होता था कि अमुक भिखारी साला चार सौ रुपये का मरफी रेडियो बाजू में लटकाकर गाने सुनता है, अमुक रोज़ फलां चक्की पर आटा बेचकर सीधा ठेके पर जाता है, अमुक को कल सिनेमा के लास्ट शो की टिकट लाइन में देखा गया।

स्कूल से कॉलेज शिक्षा तक ज्यों-ज्यों हमारी पाठ्य पुस्तकों के दाम और वजन बढ़ते गये हमारी समझदारी का पारा भी उत्तरोत्तर चढ़ता गया। मूल्यहीनता हमारे गौरव का विषय थी तो आस्थाओं को खण्डित करना हमारे आनन्द का विषय होता था। यह लगभग वही समय था जब मां के पूरे विरोध के बावजूद हम जूते कसे हुए घर के धुपे-पुंछे आंगन में ठक-ठक करते हुए घुस जाया करते थे। आज यह याद कर बड़ी लज्जा होती है कि नगर-भ्रमण के दौरान गली-सड़कों पर बिखरे अपद्रव्यों के

नमूने भी हमारे जूतों की तली के सहारे पीछे लगे हुए मकान में यत्र-तत्र चिहित हो जाते थे, किन्तु हमारी हेठी में बाल बराबर भी कमी नहीं आती थी। उस वक्त हमें यह कतई अहसास नहीं होता था कि उस क्षण मां कितना कष्ट पाती होगी जब हम घर के द्वार आये भिखारी को 'यथाशक्ति' प्रताड़ित कर दुत्कार दिया करते थे। कुछेक वर्षों बाद तक इतना उत्साह इतना आग्रह तो हमारा इस मान्यता के प्रति नहीं रहा, किन्तु धारणा वैसी ही बनी रही। हां, मां के विचारों में निष्ठा रखने वाला और बल्कि सुर में सुर मिलाने वाला एक व्यक्तित्व और घर में आ गया जीवनसंगिनी बनकर।

इधर कुछ वर्षों से देशीय चिन्तन, भारतीय परम्परा, मानवीय जीवन मूल्यों को पढ़ने-लिखने का सुयोग प्राप्त हुआ, मां और गुरुजन-परिजन द्वारा बोये गये संस्कार जो अब तक चित्त के किसी अजाने कोने में पड़े एक बूंद पानी को तरसते रहे; अब कुछ अनुकूलन या चैत में फूटती शाखों जैसे पल्लवित-फलित होने लगे, कुछ तथाकथित समझदारी की परतें खार लगी पुताई की तरह झड़ने-गिरने लगीं, तो कुछ नए सिरे से अनुभूति हुई। शायद समवेदना का क्षेत्र विकसित हुआ। एक दंभहीन सोच पैदा हुई।

और अब जब यह विश्वास होने लगा कि भूपति से पदाति तक सभी एक दूसरे के सहारे अस्तित्ववान् हैं, ऐसा एक भी तो नहीं जो परावलंबन-परस्पर निर्भरता से बचा हुआ दिखाई दे। और मनुष्य मात्र ही क्यों प्राणिमात्र की सत्ता का सूत्र सहकार-सहयोग-सामंजस्य है न कि संघर्ष। और यह मानने का तो कोई कारण नहीं कि प्रगति पथ संघर्ष से ही निष्कट है, 'सहयोग' से संभव नहीं।

दूसरों से भीख मांगकर जीवन यापन करने वाले ये आत्मविश्वासशून्य तामसिक प्राणी ही सही, हैं तो हमारी ही समाज व्यवस्था से उद्भूत हमारे समष्टि जगत् के अंगभूत। और हम जैसे रोटी, कपड़ा और मकान की दृष्टि से आश्वस्त लोग यदि रुपया-अठन्नी या मुट्ठी-दो मुट्ठी आटा आदि देकर इनके जीवन का प्रबन्ध करते हैं तो समाज का अंगभूतघटक होने के नाते यह हमारा उत्तरदायित्व ही है। व्यक्ति से व्यक्ति जुड़ते जाना, एक विराट् और व्यापक परिधि में समाते जाना यही समाज है।

तब जाकर यह समझ आने लगी कि अल्पशिक्षिता मां भी कैसे-कैसे मूल्यवान् संस्कारों को लिए हुए है और औसत भारतीय-विशेषकर नगर-गांवों का वासी जो आधुनिक मूल्य बोध से वंचित है; इनको अभी भी संजोये है। और हम शिक्षित, उच्च शिक्षित लोग न केवल इन्हें भूलते जा रहे हैं वरन् भूल से भी कोई ऐसा मूल्यवान् संस्कार यदि हममें रह गया हो तो आग्रहपूर्वक बल्कि कहना होगा दुराग्रहपूर्वक छोड़ते जा रहे हैं।

लगभग तभी से कुछ ऐसा अभ्यास सा बन गया कि भिखारियों को कुछ दे देने का मन हो ही जाता है। किन्तु इस बार सिक्का हाथ में और हाथ जेब में अटक ही गया। 'ओ बाबू! अल्लाह के नाम...' उस भिखारिन के इस वाक्यांश ने एक घटना को

विस्फोट की तरह उछाल दिया। घटना कोई बीसेक वर्ष पुरानी है। हमारे घर के पास ही चौकवाले बालाजी का मंदिर था। एक विस्तृत वर्गाकार चौक में यह मंदिर स्थित होने के कारण यह चौकवाले बालाजी के नाम से जाना जाता था। और आज भी यह हमारे नगर गंगापुर सिटी ही नहीं, अपितु आसपास के इलाके भर में चमत्कारी हनुमान मंदिर के नाम से विख्यात है। तब हम बच्चे ही थे और हमारी मां हमें प्रसाद चढ़ाने यहां भेजा करती थी और सन् 74-75 की बात रही होगी कि सवा रुपये में भी चार-पांच पेड़े चढ़ जाते थे। भोग लगवाने के बाद और चुटकी-चुटकी सबको बांटकर भी हम अपने लिए एक पेड़ा रख लिया करते थे। अपने हाथों से भोग लगवाकर जब मैं मन्दिर के बाहरी चौक में आता तब तक छोटे बच्चों की भीड़ मुझे घेर लेती थी। परसाद-परसाद करती इस बाल टोली में अधिकांश वे होते थे जो अपनी माता, चाची, भुआ या किसी बड़े बुजुर्ग के साथ दर्शन करने आते थे अथवा जो हनुमान जी के पड़ौसी हुआ करते थे और हर मंगलवार-शनिवार के दिन तो यह उनका आवश्यक सायंकालीन उपक्रम होता था। हनुमान जी का पड़ौसी होने के नाते पूर्व में मैं स्वयं भी इस प्रसादार्थी टोली का कई बार अंग बन चुका था।

मन्दिर के निकट ही कुछ मुसलमान लुहारों के भी परिवार रहते थे। ये तो अब होने लगा है कि मुसलमान मुस्लिम बस्ती में और हिन्दू हिन्दू बस्ती में रहना पसन्द करता है। यों इसके कारण भी निश्चित हैं—न जाने कौनसे क्षण दंगा हो जाए और व्यक्ति अपने पड़ोसियों की ही हिंसकता का शिकार हो जाए। जो भी हो तब माहौल इतना खराब नहीं था और उस प्रसादैषणा वाली बाल टोली में दो-चार मुस्लिम बच्चे भी आ जुटते। टोली के इन बच्चों का नजारा देखने लायक होता था। किसी तरह भीड़ में हाथ फंसा कर अपनी हथेली पर प्रसाद देने वाले की ऐन नाक के आगे ले जाने से लेकर और फिर झटके से झुककर उसकी टांगों के नीचे से निकलकर पुनः भीड़ में शामिल होने तक के बहुत से चित्र-विचित्र प्रयोग भी इन बच्चों की प्रसाद लीला के ही अंग होते थे। कुछ लोग किन्हीं विशेष अवसरों पर या संकल्प किये होने के कारण जब बहुत ज्यादा याने किलो-आधा किलो प्रसाद चढ़ाने आते तो जैसे वानरदल अत्यल्प फल वाले वृक्ष को छोड़कर प्रभूतफलों से लदे वृक्षों की ओर कूच कर जाता है उसी प्रकार ये बच्चे छोटी थैली वाले भक्तों को छोड़ उस महाभक्त की ओर लपक पड़ते। कुछ जोशीले किस्म के बच्चे 'बोल बजरंग बली की जै' जैसे उद्घोष करते हुए उस प्रसादवितरक का ध्यान अपनी ओर सफलतापूर्वक आकृष्ट कर लेते, शेष बच्चे भी इनके सुर में सुर मिलाकर जयकारा लगाते। ऐसे ही एक बार जब मैं भगवान के भोग अर्पण कर बांटते-बांटते मंदिर की सीढ़ियों से उतर आया (और प्रसाद भी कुछ अधिक ही था)। जिन बच्चों को मिलता जाता वे हटते जाते, नये बच्चे जुड़ते जाते। जयकारे भी स्वाभाविक रूप से चल रहे थे। कुछ चिल्ला रहे थे, कुछ केवल होठ ही फड़फड़ाकर बोलने का अभिनय भर कर रहे थे। मैंने यूं ही विनोदपूर्वक कह दिया कि भई जो ज्यादा

जोर से जय बोलेगा उसे प्रसाद भी ज्यादा मिलेगा। तो बच्चों में कुछ जोश बढ़ गया, परन्तु मैंने एक बात नोट की कि दो बच्चे बिलकुल चुप थे। मेरी निगाह पड़ते ही हर बार ओठ हिलाने का उपक्रम अवश्य कर देते। मैंने उनको लक्ष्य कर कहा—'जय क्यों नहीं बोलते?' उनमें से एक तो तुरन्त बोल उठा, मगर दूसरा कुछ झेंप सा गया। मैं कुछ समझ नहीं पाया और अनजाने ही पूछ बैठा, 'क्या नाम है तेरा?' उसका नाम सुनते ही सारा माजरा समझ में आ गया। दरअसल वह मुस्लिम बालक था। उसके इस व्यवहार से मेरा आग्रह भी प्रबल हो गया। आखिरकार उसने जय बोलकर ही प्रसाद प्राप्त किया। आज कोई बीसेक साल बाद अल्लाह के नाम पर कुछ देते वक्त अचानक यह घटना स्मृति की गहराइयों में से उछलकर औरों के आगे तैर गई।

मैं कुछ और सोच पाता कि वह कातर स्वर में एक और टेर लगा गई — 'ओ बाबू।....अल्लाह तुझे सलामत रखें...मुझ दुखियारी पर तरस खाओ बाबू....।' मैं पुन: वर्तमान में उपस्थित हुआ और हाथ में आया सिक्का उसके कटोरे में डालकर चल दिया।

मुझे लगता है उस बुढ़िया को सिक्का देकर मेरा हिन्दूपन बच गया। एक क्षण भर के लिए सांप्रदायिकता का जो ग्रहण मुझे ग्रस्त करने जा रहा था, वह मेरे धार्मिक संस्कारों की उज्ज्वल आभा के कारण टल गया। मेरे धर्म ने मेरा मानुषभाव बचा लिया।

जन्म तिथि व स्थान :
24 जनवरी 1924 ई. कनवास, कोटा (राज

शिक्षा :
एम. ए., पी.एच.डी.

प्रकाशन :
हाड़ौती बोली और साहित्य (शो. प्र.) हाड़ोती
एवं स्वरूप (शो.कृ.), हिन्दी भाषा और नागरी
का विकास (भाषा इति.), पूर्वी राजस्थानी :
एवं विकास (शो.कृ.), तुलसी मीमांसा (आले
पृथ्वीराज की लड़ाई, तेजाजी (लोकगाथा),
चश्मा (ललित निबंध), बीकानेर का हिन्दी सा
नया पुराना (सम्पादित),

पुरस्कार :
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर से मी
आलोचना पुरस्कार सम्मान से सम्मानित, राज
भाषा साहित्य एवं संस्कृति अकादमी बीकानेर
साहित्यकार सम्मान से सम्मानित, विभिन्न
पत्रिकाओं में शोधपरक निबंधों का प्रकाशन, रा
साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा विशिष्ट साहि
सम्मान से सम्मानित।

संप्रति :
सेवानिवृत्त

पता :
10 प्रोफेसर्स कॉलोनी, कोटा।